ONE STRAW REVOLUION - MASANOBU FUKUOKA
(HINDI TRANSLATION)

एक तिनके से आई क्रांति

लेखक : मासानोबू फुकूओका

हिंदी अनुवाद : हेमचंद्र पहारे

प्रस्तावना

दक्षिण जापान के शीकोकू द्वीप के एक छोटे से गांव में मासानोबू फुकूओका प्राकृतिक खेती की एक ऐसी नई विधि विकसित करने में लगे हैं जो आधुनिक कृषि की नुकसान वाली गति को रोकने में सहायक सिद्ध हो सकती है। इस कुदरती खेती के लिए न तो मशीनों की जरूरत होती है न ही रासायनिक उर्वरकों की, तथा उसमें निंदाई-गुड़ाई भी बहुत कम करनी पड़ती है। श्री फुकुओका न तो खेत में जुताई करते हैं और न ही तैयार किए हुए वानस्पतिक खाद का प्रयोग करते हैं। इसी तरह धान के खेतों में वे फसल उगने के सारे समय, उस तरह पानी बांधकर भी नहीं रखते जैसा कि पूरब और सारी दुनिया के किसान सदियों से करते चले आ रहे हैं। पिछले पच्चीस बरसों से उन्होंने अपने खेतों में हल नहीं चलाया है। इसके बावजूद उनके खेतों में पैदावार जापान के सर्वाधिक उत्पादक खेतों से अधिक होती है। उनके खेती में श्रम भी अन्य विधियों की अपेक्षा कम लगता है, चूंकि इस तरीके में कोयला, तेल, आदि का उपयोग नहीं होता, वह किसी भी तरह का प्रदूषण नहीं फैलाता।

जब मैंने पहली बार श्री फुकूओका की चर्चा सुनी तो मुझे उस पर विश्वास नहीं हुआ। यह भला संभव ही कैसे हो सकता है कि आप बिना जुते हुए खेतों पर सिर्फ बीज बिखेर कर साल-दर-साल चावल वह अन्य अनाजों की अधिक पैदावार देने वाली फसलें उगाते चले जाएं? निश्चय ही उनके तरीके में कुछ और खास चीज होगी।

कई बरसों से मैं अपने कुछ मित्रों के साथ क्योतो के उत्तर में पर्वतीय इलाके के एक फार्म पर रह रहा था। हम लोग चावल, राई, जौ, सोयाबीन व विभिन्न बागानी सब्जियों की खेती परम्परागत जापानी विधियों से कर रहे थे। हमारे फार्म पर आनेवाले लोग अक्सर श्री फुकूओका के काम के बारे में बात करते थे। उनमें से कोई भी उनके खेतों पर इतने ज्यादा समय तक नहीं रहा था। कोई भी उनकी तकनीक के बारे में विस्तार से नहीं जानता था। लेकिन इससे मेरी जिज्ञासा और ज्यादा बढ़ती गयी।

जब भी मुझे काम से कुछ दिनों की छूट्टी मिलती तो मैं देश के अन्य भागों की यात्रा पर निकल जाता और वहां खेतों और सामुदायिक फार्मों पर कुछ दिनों ठहर कर कुछ समय के लिए मजदूर के तौर पर काम करता था। ऐसी ही एक यात्रा के दौरान मैं श्री फुकूओका के फार्म पर, उनके काम को खुद अपनी आंखों से देखने, कुछ सीखने की नीयत से जा पहुंचा।

यह तो मैं निश्चित तौर पर नहीं कह सकता कि मैंने उनके कैसा होने की कल्पना रखी थी, लेकिन

इस महान शिक्षक के बारे में इतना कुछ सुन रखने के बाद भी जब मैंने उन्हें एक आम जापानी खेत मजदूर की तरह के जूते ओर कामकाजी लिबास पहने देखा तो मुझे ताज्जुब ही हुआ। वैसे उनकी सफेद, क्षीण दाढ़ी और आत्मविश्वासपूर्ण तथा चौकन्ने हावभाव उनके एक बेहद असाधारण व्यक्तित्व होने का अहसास करवा रहे थे।

उस पहली यात्रा के समय ही मैं श्री फुकुओका के फार्म पर कई महीने टिका और उनके खेतों तथा नींबू-नारंगी के बागों में काम करता रहा। वहां मिट्टी की कुटियों में शाम को अन्य छात्र खेत कामगारों के साथ होने वाली चर्चाओं से, धीरे-धीरे मेरे सामने श्री फुकूओका की विधियां तथा उनके पीछे निहित दर्शन स्पष्ट होता चला गया।

श्री फुकूओका का फल उद्यान मात्सुयामा खाड़ी की तरह उठी हुई पहाड़ी ढलानों पर स्थित है। यही है वह पर्वत, जहां उनके शिष्य रहते और काम करते हैं। उनमें से अधिकांश मेरी ही तरह पीठ पर अपना बिस्तर-पोटली लादे, वहां वास्तव में क्या हो सकता है, यह जाने बगैर पहुंचे थे। कुछ दिन या सप्ताह वहां रहने के बाद ये छात्र पहाड़ी से नीचे उतर कहीं गायब हो जाते हैं। लेकिन आमतौर से ऐसे तीन-चार शिष्यों का एक केंद्रीय दल भी होता है जो वहां एक वर्ष से रह रहा होता है। पिछले बरसों में कई लोग, औरतें और कई मर्द दोनों, वहां ठहरने और काम करने के लिए आए।

फार्म पर कोई आधुनिक सुविधाएं नहीं हैं। पीने का पानी पास के झरने से बाल्टियों के द्वारा लाया जाता है और खाना चूल्हों पर लकड़ी जलाकर पकाया जाता है। रात में रोशनी मोमबत्तियों या केरोसीन की लालटेनों से की जाती है। पहाड़ी या जंगली जड़ी-बूटियों तथा सब्जियां बहुतायत से उगती हैं। झरनों से मछलियां, सीप आदि प्राप्त हो जाते हैं, तथा कुछ मील की दूरी पर स्थित समुद्र से सागर वनस्पतियां भी।

काम, मौसम और ऋतुओं के हिसाब से बदलता रहता है। काम का दिन सुबह आठ बजे शुरू होता है। तथा बीच में एक घंटे खाने की छुट्टी (गर्मियों में यह दो-तीन घंटे तक खिंच जाती है) के बाद छात्र कामगार दिन ढले ही वापस लौटते हैं। खेती से संबंधित काम के अलावा मटकों में पानी भरना, लकड़ी चीरना, खाना पकाने, नहाने का पानी गर्म करने, बकरियों की देखभाल करने, मधुमक्खियों के घरों की साजसंवार करने, नये झोपड़ों का निर्माण तथा पुरानों की मरम्मत करने तथा सोयाबीन का 'सत्तू' और दही बनाने जैसे दीगर काम भी होते हैं।

श्री फुकूओका फार्म पर रहनेवाली पूरी बिरादरी के रहने का खर्च के लिए हर महीने 10,000 येन (लगभग 7,000 रुपये) देते हैं। जिनमें से अधिकांश सोया-सॉस, वनस्पति तेल तथा ऐसी अन्य वस्तुएं खरीदने पर खर्च होते हैं, जिन्हें छोटे पैमाने पर पैदा करना व्यावहारिक नहीं होता। बाकी जरूरतों के लिए छात्रों को पूरी तरह उनके द्वारा ही उगायी गई फसलों, इलाके के संसाधनों और अपनी खुद की हिकमत पर निर्भर रहना पड़ता है। श्री फुकूओका जानबूझ कर अपने छात्रों को इस अर्ध-प्रागैतिहासिक ढंग से रहने पर मजबूर करते हैं (वे खुद भी कई बरसों से इसी तरह रह रहे हैं) क्योंकि उनका विश्वास है कि यह जीवनशैली उनमें वह संवेदनशीलता पैदा करती है जो उनकी प्राकृतिक विधियों के जरिए खेती करने के लिए जरूरी है।

शीकोकू के जिस इलाके में श्री फुकूओका रहते हैं वहां चावल तटवर्ती मैदानों में तथा नींबू-नारंगी आसपास के पर्वतीय ढलानों पर उगाया जाता है। उनके फार्म में करीब सवा-एकड़ क्षेत्र के धान के खेत तथा साढ़े-बारह एकड़ क्षेत्र के नारंगी के बगीचे हैं। पश्चिम के किसानों के हिसाब से यह बहुत ज्यादा नहीं है, लेकिन चूंकि यहां अधिकांश काम जापान के परम्परागत हाथ के औजारों से किया जाता है, इतने छोटे रकबे के रख-रखाव के लिए भी काफी श्रम शक्ति की जरूरत पड़ती है।

फुकूओका अपने खेतों और बागों में छात्रों के साथ ही काम करते हैं। लेकिन यह कोई नहीं जानता कि वे ठीक किस समय काम की जगह पहुंचेंगे। उनमें ठीक ऐसे समय पहुंच जाने की सिफत है, जब छात्रों को उनके वहां आ जाने की सबसे कम उम्मीद होती है। वे बहुत ही चुस्त-दुरुस्त आदमी हैं और हमेशा इस या उस विषय पर बतियाते रहते हैं। कई बार वे सभी छात्रों को एकत्र कर, उनके द्वारा किए जा रहे काम पर चर्चा करते हैं और उन्हें बताते हैं कि कैसे उसे बेहतर ढंग से किया जा सकता है।

कभी वे उनके साथ किसी खरपतवार के जीवन-चक्र पर बातें करते हैं तो कभी बागों में लगने वाली फफूंद की बीमारियों पर या फिर कुछ ठहर कर अपने खेतों के अनुभवों पर चिंतन करने लगते हैं। अपनी खेती की तकनीकों का खुलासा करने के अलावा वे छात्रों को खेती के बुनियादी हुनरों की शिक्षा भी देते हैं। वे औजारों की समुचित देखभाल पर बहुत जोर देते हैं और उनकी उपयोगिता बतलाते हुए कभी नहीं थकते।

यदि कोई नवागंतुक यह सोचता है कि प्राकृतिक कृषि का मतलब यह है कि वह बैठे-बैठे देखता रहेगा और प्रकृति ही खेती कर डालेगी तो फुकूओका जल्द ही उसे बतला देते हैं कि उससे जानने और करने के लिए कितना कुछ वहां है। वास्तव में तो 'प्राकृतिक' खेती से तात्पर्य सिर्फ शिकार (या खोजना) और एकत्र करना ही होता है। लेकिन कृषि फसलें उगाना एक ऐसा सांस्कृतिक नवाचक्र है जिसके लिए ज्ञान और लगातार प्रयास करना जरूरी होता है। बुनियादी फर्क यही है कि फुकूओका प्रकृति को जीत कर उसे 'संशोधित' करने के बजाए प्रकृति के साथ सहयोग करते हुए खेती करते हैं।

कई मुलाकाती उनके फार्म पर सिर्फ एक-दो पहर बिताने की गरज से ही आते हैं और फुकुओका उन्हें बड़े धैर्य के साथ हर चीज दिखलाते हैं। अक्सर उन्हें पहाड़ी पगडंडियों पर बच्चों जैसी चपलता के साथ दौड़कर चढ़ते देखा जा सकता है, जबकि उनके दस-पंद्रह मेहमानों का समूह उनके पीछे-पीछे हांफता हुआ चलता है। लेकिन शुरू के कुछ बरसों में उनके फार्म पर आने वालों की संख्या ज्यादा नहीं होती थी। जब वे हर तरह से बाहरी संपर्क से कटे हुए अपने विधियां विकसित कर रहे थे।

युवावस्था में श्री फुकूओका अपने गांव से योकोहामा के लिए एक सूक्ष्मजीव विज्ञानी बनने के उद्देश्य से निकले थे। वे पौध-व्याधियों (बीमारियों) के विशेषज्ञ बने और कुछ बरसों तक उन्होंने एक प्रयोगशाला में कृषि शुल्क निरीक्षक के रूप में काम किया। इन्हीं दिनों जबकि वे पच्चीस बरस के युवा थे, श्री फुकूओका ने उस बोध का अनुभव किया जो बाद में उनके जीवन के काम का मुख्य आधार बना, तथा जोकि इस पुस्तक 'एक तिनके से आई इंकलाब' की विषय वस्तु है। अपनी नौकरी छोड़ वे अपने गांव लौटे और अपने ही खेतों में काम करते हुए अपने विचारों की व्यावहारिकता की जांच करने लगे।

इस नई विधि का मूल विचार उन्हें एक दिन तब आया जब वे एक ऐसे पुराने खेत के पास से गुजर रहे थे जिस पर कई बरसों से खेती नहीं हुई थी। और इस दौरान जिसे जोता भी नहीं गया था। वहां उन्होंने घास और खरपतवार के बीच धान के कुछ स्वस्थ्य पौधे उगे हुए देखे, उसी दिन से उन्होंने अपने धान के खेतों को पानी से लबालब भरना बंद कर दिया। उन्होंने वसंत ऋतु में धान के रोपे लगाना बंद कर शरद ऋतु में उसके बीज निकालकर खेतों की सतह पर सीधे-सीधे बो दिए। यह वह समय होता है, जबकि बीज पौधों से काटे न जाने पर खेत में अपने आप झड़ जाते हैं। खरपतवार से निजात पाने के लिए खेत की जुताई करने की बजाए उन्हें निमंत्रित करने के लिए उन्होंने पूरे खेत को सफेद बनमेथी, तथा चावल और जौ की पलवार से ढक कर लगभग स्थायी आवरण प्रदान करना सीखा। फुकूओका को जैसे ही यह पता चलता है कि परिस्थितियों को उन्होंने अपनी फसल के पक्ष में कर लिया है वे पौधों तथा खेत के कीड़ो-मकौड़ों और अन्य सूक्ष्म प्राणियों के साथ कम-से-कम छेड़-छाड़ करते हैं।

चूंकि पश्चिम के लोग, बल्कि किसानों को भी धान तथा जाड़े की फसलों को बदल-बदल कर लेने की विधि के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं है और श्री फुकूओका ने इस किताब में चावल की खेती का बार-बार उल्लेख किया है, कुछ शब्द जापान की परम्परागत जापानी कृषि के बारे में कहना काफी उपयोगी साबित होगा।

मूलत: धान के बीज मानसून के समय जलप्लावित नदियों की कछार में सीधे बो दिए जाते थे। बाद में तलहटी के इलाकों में सीढ़ियां बनाकर बाढ़ के पानी को रोक दिया जाने लगा, ताकि बारिश के बाद भी सिंचाई के लिए पानी मिलता रहे।

जापान में दूसरे विश्व-युद्ध तक प्रचलित रही परम्परागत विधि इस प्रकार थी। धान के बीज सावधानी से तैयार किए हुए एक प्रारंभिक जमीन के टुकड़े पर बोए जाते हैं। इसके बाद पूरे खेत पर खाद बिखेर दी जाती है, और उसमें पानी भर कर उसे इतना जोता जाता है कि मिट्टी पतले शोरबे जैसी गाढ़ी हो जाए। जब पौधे करीब 8-इंच हो जाते हैं तो उन्हें हाथों से बाकी खेत में रोप दिया जाता है। लगातार काम करते हुए एक अनुभवी किसान एक दिन में एक-तिहाई एकड़ क्षेत्र में रोपे लगा देता है। लेकिन हमेशा यह काम बहुत से लोग मिलकर करते हैं।

धान के रोपे लगा लेने के बाद खेत में पौधों के बीच हल्की जुताई कर दी जाती है। इसके बाद हाथ से निंदाई कर, अक्सर पलवार बिछा दी जाती है। तीन महीने तक खेत में पानी भरा रहता है और पानी जमीन की सतह से एक-इंच ऊंचा रहता है। फसल हंसियों से काटी जाती है। गहाई के पूर्व धान को बांस की मचानों पर कुछ हफ्तों तक सूखने दिया जाता है। रोपाई से लगाकर कटनी तक खेत की सफाई कम-से-कम चार बार हाथों से ही की जाती है।

जैसे ही धान की कटाई पूरी होती है, खेत में हल चलाकर मिट्टी के एक-एक फुट चौड़े टीले बना दिए जाते हैं, जिनके बीच में पानी के निकलने के लिए नालियां बन जाती हैं। टीलों के ऊपर राई और जौ के बीज बिखेर कर उन पर मिट्टी बिखेर दी जाती है। बोनी का यह चक्र धान रोपाई के एक निश्चित कार्यक्रम के कारण ही संभव हो पाता था। इसके साथ ही खेत में जैव-खाद तथा पोषक तत्वों की पर्याप्त पूर्ति भी की जाती थी। उल्लेखनीय बात यह है कि इस परम्परागत विधि के द्वारा जापानी

किसान एक ही वर्ष में, चावल और जाड़े की फसलें एक ही जमीन के टुकड़े पर बगैर उसकी उर्वरकता को कम किए सदियों तक लेते रहे।

फुकूओका परम्परागत कृषि के कई गुणों को स्वीकार करते हुए भी यह महसूस करते हैं कि उसमें किसानों को बहुत सारा गैर जरूरी श्रम करना पड़ता है। अपने तरीके को 'कुछ मत करो कृषि' कहते हुए वे कहते हैं कि उनके तरीके से सिर्फ रविवार को खेत में काम करने वाला किसान भी अपने पूरे परिवार के लिए पर्याप्त अन्न उपजा सकता है। लेकिन उनका यह मतलब भी नहीं है कि इस प्रकार की खेती, बिल्कुल बिना कोई प्रयास किए भी की जा सकती है। उनके फार्म पर खेती, कृषि-कर्म के एक निश्चित कार्यक्रम को बनाए रखकर ही की जा सकती है। जो कुछ भी वहां किया जाता है, वह सही ढंग से, पूरी संवेदनशीलता के साथ करना होता है। जैसे ही कोई किसान तय करता है - इस प्लाट पर चावल या सब्जियां उगानी हैं और वह उनके बीज बो देता है, उसे उस प्लाट के रख-रखाव की सारी जिम्मेदारी अपने पर लेनी पड़ती है। प्रकृति के क्रिया-कलाप में एक बार विघ्न डाल देने के बाद उसे उसके हाल पर छोड़ देना बहुत ही नुकसानदेह तथा गैरजिम्मेदाराना काम होता है।

जिस समय सब्जियों के अंकुर छोटे होते हैं उस समय तो खरपतवार की निंदाई करनी ही पड़ती है। लेकिन जैसे ही सब्जियां अपनी जड़ पकड़ लेती हैं उन्हें प्राकृतिक जमीनी आवरण के साथ बे-रोकटोक बढ़ने दिया जाता है। कुछ सब्जियों को काटा नहीं जाता। उनके बीज जमीन पर गिर जाते हैं और एक-दो पीढ़ियों के बाद वे अपने मजबूत और थोड़े कड़वे वन्य पूर्वजों के बढ़ने की आदतों को अपना लेते हैं। इन सब्जियों में से कई बिना किसी देखभाल के उगती रहती हैं। एक बार जब मुझे श्री फुकूओका के फार्म पर आए ज्यादा दिन नहीं हुए थे और मैं उनके बाग के दूरस्थ इलाके में घूम रहा था, मेरा पैर ऊंची घास के बीच किसी कठोर चीज से जा टकराया। नजदीक से देखने के लिए जब मैं नीचे झुका तो मुझे एक ककड़ी और उसके पास ही मेथी के बीच दुबका हुआ एक कुम्हड़ा दिखलाई पड़ा।

बरसों, श्री फुकूओका अपनी विधि के बारे में पत्र-पत्रिकाओं में लिखते रहे, रेडियो और टेलीविजन पर उनके साक्षात्कार भी प्रसारित हुए, लेकिन लगभग किसी ने भी उनके उदाहरण को खुद नहीं आजमाया। उन दिनों जापानी समाज पक्के इरादे के साथ उनसे ठीक उल्टी दिशा की ओर बढ़ रहा था।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अमरीकियों ने जापान का परिचय आधुनिक रासायनिक कृषि से करवाया। इसकी मदद से जापान के किसान तकरीबन उतनी ही पैदावार प्राप्त कर सके जितनी वे अपने परम्परागत तरीके से करते थे। लेकिन उनका श्रम और समय घट कर आधा रह गया। उस समय उन्हें यह स्वप्न साकार हो उठने जैसी बात लगी थी और एक ही पीढ़ी के दौरान लगभग सबने पुरानी विधि त्याग, नई रासायनिक विधि को अपना लिया।

जापान के किसानों ने सदियों तक मिट्टी में जैविक पदार्थों को फसल-चक्र, खाद-पात तथा फसलें उगाकर बनाए रखा था। लेकिन जैसे ही उन्होंने रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग आरंभ कर इन रीतियों का त्याग किया, एक ही पीढ़ी के दौरान मिट्टी की उर्वरता नष्ट हो गयी। मिट्टी की बनावट बिगड़ती गई। रासायनिक पोषण पर उसकी निर्भरता बढ़ती गई और फसलें कमजोर हो गयीं। घटे हुए मानवीय तथा प्राणी-श्रम की भरपाई करने के लिए नई प्रणाली ने मिट्टी के सुरक्षित उर्वरता-कोषों को उलीच डाला।

पिछले चालीस बरसों से फुकूओका ने अपनी आंखों से जापान के समाज और जमीन, दोनों को बड़े दुख के साथ बिखरते देखा। जापानियों ने बड़ी एकाग्रता सहित आर्थिक तथा औद्योगिक विकास के आदर्श का रास्ता अपनाया। किसानों द्वारा देहातों की अपनी जमीनें छोड़-छाड़कर शहरी औद्योगिक केंद्रों की तरफ जाने की प्रक्रिया बदस्तूर जारी रही। जिस गांव में फुकूओका जन्में तथा जहां उनका परिवार संभवत: पिछले चौदह सौ वर्षों से रह रहा था, उसकी ऐन सीमा तक मात्सुयामा महानगर के उपनगर बढ़ आए हैं। फुकूओका के धान के खेतों में से होकर गुजरनेवाला राष्ट्रीय राजमार्ग अपने इर्द-गिर्द साके (एक प्रकार की मदिरा) की बोतलें तथा अन्य प्रकार का कूड़ा-कचरा बिखेरता जाता है।

हालांकि श्री फुकूओका अपने दर्शन को किसी खास धार्मिक सम्प्रदाय या संगठन से प्रेरित नहीं मानते, उसकी शब्दावली तथा शिक्षण विधियों पर जैन-बौद्धवाद तथा ताओ-दर्शन का गहरा प्रभाव है। कई बार तो वे अपने विचारों को स्पष्ट करने या चर्चा को गर्माने के लिए बाइबिल के उदाहरण भी देते हैं तथा यहूदी मसीही दर्शन तथा धर्मशास्त्रों के दृष्टांतों का भी उपयोग करते हैं।

श्री फुकूओका मानते हैं कि प्राकृतिक कृषि व्यक्ति की आध्यात्मिक सेहत से प्रवाहित होती है। उनके हिसाब से जमीन के उपचार तथा मानवीय आत्मा के शुद्धिकरण की प्रक्रिया एक ही है और इसीलिए वे एक ऐसी जीवनशैली और कृषि-प्रणाली की सिफारिश करते हैं जिसमें यह प्रक्रिया क्रियाशील हो सके।

यह सोचना सही नहीं होगा कि श्री फुकूओका अपने जीवनकाल में ही वर्तमान परिस्थितियों के चलते, अपने सपनों को व्यावहारिक रूप प्रदान कर सकते हैं। तीस वर्षों से ज्यादा समय बीत जाने के बाद भी अभी उनकी तकनीकों का विकास जारी है। उनका सबसे बड़ा योगदान तो यह प्रदर्शित करना ही है कि आत्मिक स्वास्थ्य की स्थापना की दैनंदिन प्रक्रिया के द्वारा भी दुनिया में व्यावहारिक तथा कल्याणकारी बदलाव लाया जा सकता है।

आज जबकि रासायनिक कृषि के दूरगामी खतरों को आमतौर से स्वीकार किया जाने लगा है, कृषि की वैकल्पिक विधियां खोजने में लोगों की दिलचस्पी फिर से बढ़ी है। श्री फुकूओका जापान में कृषि-क्रांति के एक अग्रणी पक्षधर के रूप में उभरे हैं। अक्टूबर 1975 में उनकी पुस्तक 'द वन स्ट्रा रेवोल्यूशन' के प्रकाशन के बाद से जापानियों में प्राकृतिक कृषि के प्रति रुचि बड़ी तेजी से बढ़ी है।

फुकूओका के फार्म पर अपने डेढ़ वर्ष के प्रवास के दौरान मैं अपने क्योतो स्थित फार्म पर लौटा। वहां सभी लोग इस नई विधि को आजमाने के लिए उत्सुक थे और धीरे-धीरे हमारी जमीन के अधिकाधिक हिस्से प्राकृतिक कृषि के क्षेत्रों में बदलते गए।

हम लोगों ने परम्परागत फसल-चक्र के तहत धान और राई उगाने के अलावा अपने यहां श्री फुकूओका की विधि से गेहूं, मक्का, आलू, सोयाबीन तथा पपरी उगाई। मक्का तथा कछार में बोई जाने वाली अन्य फसलें, जो देरी से अंकुरित होती हैं, को बोने के लिए हमने जमीन में बांस या लकड़ी के टुकड़ों से गहरे गड्ढे किए और प्रत्येक गड्ढे में एक-एक बीज डाल दिया। सोयाबीन व मक्का हमने एक ही समय उस तरीके से या उनके बीजों को मिट्टी की छोटी-छोटी टिकियों में लपेट कर खेतों में बिखेर दिए थे। इसके बाद हमने खरपतवार तथा सफेद मेथी से जमीनी आवरण की छंटनी कर पूरे खेत पर पुआल फैला दिया। मेथी पनपी तो सही, लेकिन तभी जब सोयाबीन ठीक से जड़ पकड़ चुकी थी।

श्री फुकूओका ने कुछ सुझाव देकर हमारी मदद तो की, लेकिन हमें अपने यहां की परिस्थितियों और अपनी विभिन्न फसलों के हिसाब से उनकी विधि में कई सुधार भी 'गल्ती करो, और उसे सुधार दो' नीति अपनाते हुए किए। हमें यह शुरू से ही पता था कि प्राकृतिक कृषि को पूरी तरह अपनाने में हमें कई मौसम लगेंगे। क्योंकि इसके पूर्व हमें जमीन के साथ-साथ अपनी मानसिकता भी बदलनी होगी। परिवर्तन की यह प्रक्रिया निरंतर जारी है।

- लॅरी कॉर्न

आमुख

उन पाठकों को यह पुस्तक पढ़कर आश्चर्य होगा जो इसे मात्र कृषि पर लिखी हुई पुस्तक मानकर पढ़ेंगे। क्योंकि उसमें उन्हें आहार, स्वास्थ्य, सांस्कृतिक मूल्यों तथा मानवीय ज्ञान की सीमाओं के बारे में भी बहुत कुछ पढ़ने को मिलेगा। दूसरे, यह उन पाठकों को भी चौकाएगी जो इसके प्रति उसके दर्शन के बारे में दूसरों से सुनकर आकर्षित हुए क्योंकि वह एक जापानी फार्म पर चावल, जाड़े की फसलों, नीबूं तथा सब्जियों की खेती के बारे में व्यावहारिक जानकारियों से भी ओतप्रोत है।

चूंकि हमें यह मानकर चलने की आदत सी पड़ गई है कि कोई भी पुस्तक आमतौर से एक ही विषय पर तथा उसी विषय के विशेषज्ञ द्वारा लिखी जाती है। हमें इस समय 'द वन स्ट्रा रिवोल्यूशन' (एक तिनके से आई क्रांति' जैसी किताब की सख्त जरूरत है। यह किताब हमारे लिए खासतौर से मूल्यवान है। क्योंकि वह एक साथ ही व्यावहारिक और दार्शनिक दोनों है। खेती के बारे में यह एक आवश्यक और प्रेरणादायक किताब इसलिए भी है कि वह केवल खेती के बारे में ही नहीं है।

कृषि की जानकारी रखनेवाले कुछ पाठकों को महसूस होगा कि श्री फुकूओका की तकनीकें हमारे अधिकांश फार्मों पर प्रत्यक्षत: लागू नहीं की जा सकेंगी। मगर इसी वजह से यह मान लेना भी भूल होगी कि इस पुस्तक के व्यावहारिक अंशों की कोई उपयोगिता नहीं है। पुस्तक के ये हिस्से इस दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण हैं कि वे इस बात की मिसाल है कि जब हम भूमि, जलवायु और फसलों का अध्ययन एक नई दिलचस्पी, स्पष्ट दृष्टि तथा सही सरोकारों के साथ करते हैं, तो कितना कुछ हासिल किया जा सकता है। यह व्यावहारिक जानकारी इसलिए उपयोगी है कि उसका लहजा सुझावात्मक और प्रेरणादायी है। जो भी पाठक इन्हें पढ़ेगा, उसका ध्यान बार-बार पुस्तक के पन्नों से अपने खेतों की तरफ खिंचेगा और वहां से वह उपयुक्त संबंध जोड़कर अपनी समूची कृषि प्रणाली पर विचार करने को बाध्य होगा।

हमारे देश में कई लोगों की तरह, मगर उनसे काफी पहले श्री फुकूओका की समझ में यह बात आ गई कि हम जीवन के विभिन्न पहलुओं को एक-दूसरे से अलग नहीं कर सकते। जब हम खाद्यान्न उगाने का अपना तरीका बदलते हैं तो उसके साथ ही हमारा आहार भी बदल जाता है, समाज और हमारे जीवनमूल्य भी। अत: यह किताब संबंधों, कारणों और परिणामों तथा जो कुछ हम जानते हैं, उसके बारे में जवाबदेह होने के बारे में है।

जो लोग जैव-कृषि पर उपलब्ध साहित्य से परिचित हैं, उन्हें श्री फुकूओका तथा पश्चिम में जैव-कृषि विज्ञान के संस्थापक सर आल्बर्ट हॉवर्ड के जीवन में कई समानताएं नजर आएंगी। हॉवर्ड की तरह ही फुकूओका ने भी शुरुआत एक प्रयोगशाला वैज्ञानिक के रूप में की और उन्हीं की तरह उनके सामने भी प्रयोगशाला की सीमाएं शीघ्र ही उजागर हो गयीं। हॉवर्ड ने अपना कार्यक्षेत्र प्रयोगशाला से हटाकर खेतों में बनाया और अपनी जीवनशैली भी उसी हिसाब से बदली। क्योंकि उन्हें लगा कि उनकी यह जिम्मेदारी है कि अपनी सलाह दूसरों को देने के पूर्व वे स्वयं उसके अनुसार आचरण करें। इसी ढंग से श्री फुकूओका ने भी अपना रास्ता खुद तय किया। 'अंत में मैंने अपने विचारों को साकार रूप देने तथा उन्हें व्यावहारिकता की कसौटी पर कसने का फैसला किया, ताकि मुझे पता चल सके कि मेरी समझ सही है या गलत। खेती करते हुए ही अपना जीवन बिताना ... यह था वह रास्ता जिस पर मैं चल पड़ा।' वे आगे कहते हैं, 'सैकड़ों हिदायतें देने से क्या यह बेहतर नहीं था कि अपने दर्शन को मैं खुद अपने ही जीवन में उतारूं? जब भी कोई विशेषज्ञ अपने परामर्श को खुद ग्रहण करने का निर्णय करता है तथा वैसा ही 'करना' शुरू कर देता है, जैसा वह 'कहता' है तो वह अपनी विशेषज्ञता की सीमाओं को तोड़ देता है। तभी हम उसकी बात पर कान देते हैं - क्योंकि अब उसकी बात सिर्फ उसके ज्ञान पर आधारित न होकर ठोस प्रामाणिकता लिए होती है।'

जब श्री फुकूओका उन कृषि विधियों की बात करते हैं जिन्हें वे 'कुछ-मत-करो-विधि' कहते हैं तो पश्चिम के लोगों को बरबस बाईबल में संत मॅथ्यू की किताब का यह उद्धरण (6 : 26) याद आता है: 'देखो आसमान में उड़ती उन चिड़ियों को, वो ना कुछ बोती हैं ना काटती हैं, न कुछ खलिहानों में सहेजती हैं, फिर भी परमपिता ईश्वर उनका पेट भरता है।' इन दोनों ही मामलों में मेरे खयाल से, हमें आगाह किया जा रहा है कि हम ईश्वरीय व्यवस्था में अपनी सही जगह का पहचानें: हमने न तो यह दुनिया बनाई है न खुद को बनाया है; हम जीवन का उपयोग करते हुए जिंदा हैं न कि उसकी रचना करते हुए। लेकिन जिस तरह परिंदों को भोजन खोजना तो पड़ता ही है, उसी तरह बेशक किसान भी बिल्कुल बिना कुछ किए खेती नहीं कर सकता। इस तथ्य को श्री फुकूओका भी अपनी सहज विनोदप्रियता के साथ स्वीकार करते हैं, 'मैं कुछ-मत-करो खेती की हिमायत करता हूं यह जानकर कुछ लोग यह सोच लेते हैं कि वे बगैर अपने बिस्तरों से उठे ही अपना जीवन जी लेंगे। निश्चय ही इन लोगों को चौंकाने के लिए मेरी विधि में काफी मसाला है।' यह तर्क 'काम' के विरुद्ध न होकर 'निरर्थक' काम के खिलाफ है। कई बार लोग अपनी इच्छित वस्तुएं पाने के लिए आवश्यकता से अधिक काम करते हैं। तथा कई बार ऐसी वस्तुओं की इच्छा भी करते हैं, जिनकी उन्हें जरूरत ही नहीं है।

और कुछ-मत-करो का उल्लेख हम हमारी उस सहजबुद्धि से उपजी मुद्रा के चलते भी कर रहे हैं। जब हम विशेषज्ञों के किसी फतवे के प्रत्युत्तर में पूछते हैं - 'यदि हम ऐसा न करें या वैसा करें तो भला क्या होगा?' मेरे सोचने का तरीका कुछ इसी प्रकार का है। यह आम बच्चों और कुछ वृद्धों की वही उलटी चलने की प्रवृत्ति है, जिसके चलते वे इस तरह के कूट तर्कों को ठुकराकर 'किस लिए' की उपेक्षा कर आगे बढ़ जाते हैं और ऐसा करते हुए वे गलत नहीं होते।'

श्री फुकूओका एक ऐसे वैज्ञानिक हैं जो विज्ञान या उसके नाम पर चलनेवाली चीजों को ही शंका की नजर से देखते हैं। इसका मतलब यह भी नहीं है कि वे अव्यावहारिक हैं या ज्ञान को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। वास्तव में उनका संशयवाद उनकी व्यावहारिकता या जो कुछ वे जानते हैं उससे उपजा है।

सिर्फ अल्बर्ट हॉवर्ड की तरह ही वे ज्ञान को विशिष्टीकरण (स्पेशलाईजेशन) द्वारा टुकड़ों में बांटकर देखने की प्रवृत्ति का विरोध करते हैं। हॉवर्ड की तरह ही वे अपने विषय का अध्ययन उसकी समग्रता के साथ करना चाहते हैं। तथा उसमें वो जो जानते हैं तथा जो नहीं जानते हैं, वह दोनों ही शामिल हैं। आधुनिक व्यावहारिक विज्ञान की जो बात उन्हें पसंद नहीं है वह है रहस्यमयता के प्रति उसकी विमुखता, जीवन को उसके ज्ञात पहलुओं तक ही सीमित कर देने की तत्परता तथा वह पूर्व धारणा कि जो कुछ विज्ञान को पता नहीं है उसे जाने बगैर भी उसका काम चल सकता है। वे कहते हैं, 'विज्ञान द्वारा जिस प्रकृति को हमने जाना है वह, वह प्रकृति है जिसे नष्ट कर दिया गया है। वह उस कंकाल की तरह है जिसपर किसी आत्मविहीन प्रेत ने कब्जा कर लिया है। 'कुछ ऐसी ही बात प्रकृतिवादी कवि वर्डस्वर्थ ने भी अपनी इन पंक्तियों में कही है:

'हमारी हस्तक्षेपकरी बुद्धि
उन सुंदर आकारों को विकृत कर देती है,
जिनकी हत्या हमने, अपने ही हाथों
उन्हें विच्छेदित करने के वास्ते कर दी।'

श्री फुकूओका के विज्ञान का आदि और अंत, एक ऐसा सम्मान भाव है, एक ऐसी चेतना है जो जानती है कि मानव जिस किसी चीज को भी एक बार अपने हाथों से छूता है उसे वह अनिवार्य रूप से अवमूल्यित कर देता है। वे ऐसा कहते प्रतीत होते हैं कि हम में समग्रता का अहसास ज्ञान से नहीं बल्कि उस आनंद की आनंनभूति से प्राप्त होता है जो उस ज्ञान की अपूर्णता के अहसास मात्र से प्राप्त होती है। इस विचित्र अनुभूति का समर्थन हमें बाइबल के कुछ प्रसंगों में तथा विलियम ब्लॅक की इन पंक्तियों में भी दिखलाई दे जाता है:

'वह जो अपने आप को बांध देता है
किसी सुख के साथ,
नष्ट कर देता है जीवन की स्वच्छंद उड़ान को,
अगर वह जो, उड़ते आनंद को ही,
चूम, छोड़ देता है, वह सर्वथा जीता है
अनंत के प्रभाव में।'

यही है वह गरिमा जो श्री फुकूओका की कृषि संबंधी अंतर्दृष्टियों के मूल में विद्यमान है: 'जब यह बात समझ ली जाती है कि हम सुख को हमेशा के लिए अपना लेने की कोशिश में खो देते हैं, तो हम प्राकृतिक कृषि के सार को हृदयंगम कर लेते हैं।'

और यही प्राकृतिक कृषि, जिसका उद्‌गम और समापन सम्मान भाव में है ही हर जगह मानवीय और कृपाशील भी है। मानव सबसे अधिक कार्यकुशल तभी होता है जब वह मानव-कल्याण के लिए काम करता है, न कि तब, जब वह और ज्यादा उत्पादन या 'और अधिक कुशलता' के लिए, जो कि औद्योगिक कृषि का लगभग अंतिम लक्ष्य है, के लिए काम करता है। 'कृषि का अंतिम लक्ष्य केवल

फसलें उगाना नहीं है।' श्री फुकूओका कहते हैं, 'बल्कि इंसानों की परवरिश कर उन्हें संपूर्णता प्रदान करना है।' और कृषि के बारे में बातें करते हुए वे उसे 'यहां एक छोटे से खेत पर रहकर, उसकी देखभाल करते हुए पूरी आजादी के साथ, प्रतिदिन की विफलता को सभी दिनों में भोगते हुए जीने का रास्ता' मानते हैं। क्योंकि निश्चय ही कृषि-कर्म का मौलिक रास्ता भी यही रहा होगा। यह ऐसी खेती है जो सम्पूर्ण व्यक्ति का, सम्पूर्ण शरीर और आत्मा, दोनों का पोषण करती है। यह सही भी है क्योंकि मानव सिर्फ रोटी के लिए और रोटी के बल पर ही नहीं जिया करता है।

- वेंडेल बॅरी

एक तिनके से आई क्रांति

1
देखो इस अनाज के दाने को

मैं मानता हूं कि धान के इस एक तिनके से बहुत बड़े बदलाव की शुरुआत हो सकती है। देखने से यह तिनका छोटा सा और महत्वहीन नजर आता है। शायद ही किसी को विश्वास होगा कि वह किसी इंकलाब की शुरुआत कर सकता है। लेकिन मुझे इस तिनके के वजन और क्षमता का अहसास हो चुका है। मेरे लिए यह क्रांति वास्तविक है।

जरा राई और जौ के इन खेतों को देखिए। इस पक रही फसल से प्रति चौथाई एकड़ लगभग 22 बुशेल (एक क्विंटल) पैदावार ली जा सकेगी। मेरे ख्याल से यह एहिमे प्रिफैक्चर जिले - जो कि जापान के सबसे उर्वरक इलाकों में से है की पैदावार के बराबर है। और इन खेतों को पिछले पच्चीस सालों से जोता नहीं गया है।

इनकी बुआई के नाम पर मैं सिर्फ जौ और राई के बीजों को पतझड़ के मौसम में, जबकि धान की फसल खेतों में खड़ी होती है, इन्हीं खेतों में बिखेर देता हूं। कुछ हफ्तों बाद मैं धान की फसल काट लेता हूं और धान का पुआल सारे खेत में फैला देता हूं।

यही तरीका धान की बुआई के लिए अपनाया जाता है। जाड़े (खरीफ) की इस फसल को 20 मई के आसपास काट लिया जाएगा। फसल पूरी तरह से पकने के लगभग दो सप्ताह पूर्व मैं धान के बीजों को राई और जौ की फसल पर बिखेर देता हूं। खरीफ के धान की कटाई तथा गहाई हो जाने के बाद मैं इसका पुआल भी खेतों में बिखेर देता हूं।

मेरे खयाल से धान तथा जाड़े की फसलों की बुआई के लिए इस एक ही विधि का उपयोग करना, इस प्रकार की खेती में ही किया जाता है। लेकिन एक तरीका इससे भी आसान है। अगले खेत की तरफ चलते हुए मैं आपको बताना चाहूंगा कि वहां उग रहा धान पिछली पतझड़ में खरीफ की फसल के साथ ही बोया गया था। इस खेत में बुआई का सारा काम नए साल के पहले दिन तक निपटा लिया गया है।

इन खेतों में आप यह भी देखेंगे कि वहां सफेद बन मेथी और खरपतवार भी उग रही है। धान के पौधों के बीच सफेद मेथी अक्तूबर महीने के प्रारंभ में, यानी जौ और राई से कुछ पहले बोई गई थी।

खरपतवार उगने की मैं परवाह नहीं करता क्योंकि उनके बीज अपने आप आसानी से झड़ते और उगते रहते हैं।

अतः इन खेतों में बुआई का क्रम इस प्रकार रहता है: अक्तूबर के प्रारंभ में मेथी धान के बीच बिखेरी जाती है, और जाड़े की फसलों की बुआई वहीं उस महीने के मध्य हो जाती है। नवम्बर की शुरुआत में धान काट लिया जाता है और उसके बाद अगले वर्ष के लिए धान के बीज बो दिए जाते हैं। और सारे खेत में पुआल फैला दिया जाता है। आपको यहां जो राई और जो दिखलाई दे रही है, उसे इसी ढंग से उगाया गया है।

चौथाई एकड़ में खेत में जाड़े की फसलों और धान की खेती का सारा काम केवल एक-दो व्यक्ति ही कुछ ही दिनों में निपटा लेते हैं। मेरे ख्याल से अनाज उगाने का इससे ज्यादा आसान, सहज तरीका कोई अन्य नहीं हो सकता।

खेती का यह तरीका आधुनिक कृषि की तकनीकों के सर्वथा विपरीत है। यह वैज्ञानिक जानकारी तथा परम्परागत कृषि विधियों, दोनों को बेकार सिद्ध कर देता है। खेती के इस तरीके, जिसमें कोई मशीनों द्वारा निर्मित खादों तथा रसायनों का उपयोग नहीं होता, के द्वारा भी औसत जापानी खेतों के बराबर या कई बार उससे भी ज्यादा पैदावार हासिल करना संभव है। इसका प्रमाण यहां आपकी आंखों के सामने फलफूल रहा है।

2

कुछ भी नहीं यह संसार

इधर लोग मुझसे पूछते रहे हैं कि इस ढंग की खेती मैंने इतने बरस पहले ही क्यों शुरू कर दी थी। अब तक इस विषय में मैंने किसी से चर्चा नहीं की थी। शायद इस बारे में बात करने का कोई अवसर ही आया। इस सबकी शुरुआत बस, क्या कहते हैं, एक ऐसे छोटे से तजुर्बे से हुई जो अचानक मेरे दिमाग में कौंध गया।

इस अनुभूति ने मेरी जिंदगी को बिल्कुल ही बदल डाला। वैसे इसमें कहने जैसी कोई खास बात नहीं है। लेकिन उसे कुछ इस ढंग से बयान किया जा सकता है: 'मानवता को कुछ भी पता नहीं है। किसी भी चीज का अपना कोई अंतर्निहित मूल्य नहीं होता, और हमारी हर क्रिया एक निष्फल, निरर्थक प्रयास होता है।' सुनने में यह विचार बड़ा अजीब सा लग सकता है, लेकिन यदि उसे शब्दों में बयां करें तो उसको केवल इसी ढंग से बखाना जा सकता है।

यह 'विचार' मेरे दिमाग में अचानक जब विकसित हुआ तब मेरी कम उम्र काफी कम थी। मुझे तब यह पता नहीं था कि मेरी यह अंतदृष्टि कि - मानव की सारी समझदारी और सारे प्रयास बेमानी है, वाजिब है या नहीं, लेकिन यदि मैं इन विचारों की समीक्षा कर उन्हें दिमाग से निकाल भी देना चाहूं तो मेरे अपने भीतर कोई ऐसी चीज मैं नहीं पाता जिसके बल पर मैं उनका खंडन कर सकूं। बस, एक विश्वास मेरे भीतर था, जो मुझसे कह रहा था कि यह ऐसा ही है।

आमतौर से लोग मानते हैं कि मानव की बुद्धि से ज्यादा शानदार कोई चीज नहीं है। कि मानव कुछ विशेष मूल्य रखनेवाला प्राणी है। और संस्कृति एवं इतिहास द्वारा प्रतिबिम्बित उसकी रचनाएं और उपलब्धियां देखने में अद्‌भुत हैं। बहरहाल यह धारणा आम है।

चूंकि मैं जो कुछ भी सोच रहा था, वह इस धारणा को खारिज करता था, इस कारण मैं अपने विचारों को किसी के सामने व्यक्त नहीं कर पाया। आखिर मैंने अपने विचारों को एक ठोस आकार देने तथा उन्हें व्यवहार में लाने का निश्चय किया। ताकि यह तय हो सके कि जो कुछ मैंने सोचा समझा है, वह सही है या गलत। यहीं से मैं यह खेती करने, चावल और जाड़ों की फसल उगाने के रास्ते चल पड़ा। पर आखिर वह अनुभव कौन सा था जिसने मेरी जिंदगी को बदल डाला।

आज से चालीस बरस पहले जब मैं खुद पच्चीस साल का था, मैं योकोहामा कस्टम ब्यूरो (सीमाशुल्क कार्यालय) के पौध निरीक्षण विभाग में काम कर रहा था। मेरा मुख्य काम बाहर से आनेवाले तथा जानेवाले पौधों का निरीक्षण करके यह पता लगाना था कि उन्हें बीमारी-वाहक कीड़े तो नहीं लगे हुए हैं। खुशकिस्मती से मुझे काफी खाला वक्त मिल जाता था, जिसका उपयोग मैं अनुसंधान-प्रयोगशाला में पौधो की बीमारियों के बारे में, जो कि मेरा विषय था, परीक्षण करते हुए करता था। यह प्रयोगशाला यामाते उद्यान के पास स्थित थी, और वहां से योकोहामा बंदरगाह दिखाई देता था। इमारत के ठीक सामने कॅथौलिक गिरजाघर था तथा पूरब में फेरिस गर्ल्स स्कूल भी। माहौल में खामोशी थी जो कि अनुसंधान कार्य के लिए आदर्श वातावरण बनाती थी।

प्रयोगशाला में रोग अनुसंधानकर्ता थे आईची कुरोसावा। पौध-व्याधि-विज्ञान का अध्ययन मैंने गोफू कृषि उच्च माध्यमिक विद्यालय के अध्यापक माकोतो ओकेश के आधीन किया था तथा ओकायामा शासकीय कृषि परीक्षण केंद्र के सुइहिको इगाता से भी मैं मार्गदर्शन प्राप्त कर रहा था।

प्रोफेसर कुरोसावा का छात्र होना मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात थी। हांलाकि शैक्षिक जगत में उन्हें ज्यादातर लोग नहीं जानते थे, उन्होंने चावल को लगनेवाली बीमारी 'बाकाने' की फफूंद को अलग कर उसका कल्चर (संवर्ध) विकसित किया। उन्होंने ही पहली बार इस फंगस कल्चर से पौधों को बढ़ाने वाले हारमोन 'जिबेरेलिन' को अलग किया। धान के छोटे पौधे, यदि इस हारमोन की थोड़ी सी मात्रा सोख ले तो वह पौधा असाधारण रूप से लम्बा हो जाता है। लेकिन इसी की अधिक मात्रा पौधे को देने से उसका ठीक उल्टा असर होता है, और पौधे की बढ़त रुक जाती है। जापान में तो किसी ने इस खोज पर ध्यान नहीं दिया। लेकिन विदेशों में यह सक्रिय अनुसंधान का विषय बन गया। इसके बाद ही एक अमेरिकी वैज्ञानिक ने 'जिबेरेलिन' का उपयोग अंगूर की बीज-रहित किस्म विकसित करने के लिए किया।

कुरोसावा-सान (हमारे 'जी' की तरह सम्मानजनक शब्द) को मैं अपने पिता की तरह मानता था, और उन्हीं के मार्गदर्शन में मैंने अपनी एक विच्छेदन सूक्ष्मदर्शी (डिसेक्शन माइक्रोस्कोप) बनाया और अमेरिकी-जापानी नारंगी फलों के तने, शाखाओं और फलों को लगनेवाली बीमारियों पर अनुसंधान शुरू कर दिया।

सूक्ष्मदर्शी में झांकते हुए मैंने फफूंद संबंधी अध्ययन किया। कई प्रकार की फफूंदों का संकरण किया

तथा नई रोगजनक किस्में विकसित कीं। अपने काम में मुझे खूब आनंद आता था। चूंकि इस काम के लिए लगातार गहरी एकाग्रता चाहिए होती थी। कई बार मैं प्रयोगशाला में काम करते बेहोश तक हो गया।

यही वक्त जवानी के जोश-खरोश का भी होने के कारण मैं अपना सारा समय प्रयोगशाला के बंद दरवाजों के पीछे ही नहीं बिताता था। यहीं पर योकोहामा का बंदरगाह था, जहां ऐश करने के लिए काफी गुंजाइश थी। इसी दौरान एक घटना घटी। हाथ में कैमरा लिए मैं गोदी के किनारे टहल रहा था कि अचानक मेरी निगाह एक खूबसूरत स्त्री पर पड़ी। यह सोचकर कि वह तस्वीर खींचने के लिए एक अच्छा विषय होगी, मैंने उसे एक पोज देने के लिए कहा। मैं उसे वहां लंगर डाले खड़े एक विदेशी जहाज पर ले गया और उसे तरह-तरह की मुद्राओं में खड़ा होने को कहा और उसकी कई तस्वीरें खींचीं। उसने मुझ से कहा कि तस्वीरें तैयार हो जाने पर उनकी 'कापियां' मैं उसे भेज दूं। जब मैंने उससे पूछा कि तस्वीरें किस पते पर भेजूं, तो उसने बगैर अपना नाम बतलाए सिर्फ इतना ही कहा, 'आकुनाको' और वहां से चल दी।

फिल्म डेवलप करने के बाद मैंने वो फोटो अपने एक मित्र को दिखलाकर उससे पूछा कि क्या वह उसे पहचानता है। उसका मुंह आश्चर्य से खुला रह गया और उसने कहा, 'यह तो प्रसिद्ध सिनेतारिका माईको ताकामीने है।' तत्काल मैंने दस एनलार्ज फिल्मप्रिंट उसे ओकुना सिटी भेज दिए। कुछ ही दिनों के बाद वे हस्ताक्षर सहित डाक द्वारा मेरे पास वापिस आ गए। लेकिन उनमें एक तस्वीर कम थी। जब मैंने बाद में इस पर सोचा तो वह उसका तिरछा नजदीक से लिए चेहरे का फोटो था, जिसमें शायद उसके चेहरे की झुर्रियां नजर आ रही होंगी। मैंने नारी मन की एक झलक पायी, यह सोचकर मुझे खुशी हुई।

कभी-कभी बेढब और असहज होने के बावजूद मैं नानकिंगाई क्षेत्र के नाच घरों में भी चला जाया करता था। वहां एक बार मेरी नजर लोकप्रिय गायिका नोरिको आयाबा पर पड़ी और मैंने उसे अपने साथ नृत्य करने के लिए आमंत्रित किया। उस नृत्य के अनुभव को मैं कभी नहीं भुला पाया। उसके भरे-पुरे जिस्म से मैं इस कदर अभीभूत हो गया कि उसकी कमर में अपना बाजू तक नहीं डाल सका।

कुल मिलाकर मैं बहुत अधिक व्यस्त रहता था और खुद को ऐसा खुशनसीब युवा मानता था जो सूक्ष्मदर्शी आंख से उजागर होती प्रकृति से चमत्कृत हो रहा था। मुझे पहली बार पता चला कि यह सूक्ष्म जगत बाहर के विराट जगत के साथ कितनी समानता रखता है। शामों को मैं चाहें मोहब्बत कर रहा हूं या नहीं, मैं फिर भी घूमते-फिरते जिंगदी का लुत्फ उठाता था। मुझे लगता है कि अति परिश्रम की थकान तथा लक्ष्यहीन जीवन ही प्रयोगशाला में मेरी बेहोशी का कारण बना। इस सबका परिणाम यह हुआ कि मुझे अचानक निमोनिया हो गया, और मुझे पुलिस अस्पताल में इलाज के लिए भर्ती होना पड़ा।

वे जाड़े के दिन थे। टूटी हुई खिड़की के कारण कमरे में काफी बर्फ आ जाती थी। रजाई के भीतर तो शरीर गर्म रहता था लेकिन मेरा चेहरा बर्फ हो जाता था। मेरा बुखार नाप कर नर्स तुरंत चली जाती थी।

चूंकि मेरा कमरा एक निजी वार्ड था, इसलिए लोग मेरे कमरे में शायद कभी ही झांकते थे। मुझे ऐसा लगा जैसे, मुझे बाहर ठंड में छोड़ दिया गया है, और अचानक मैं अकेलेपन और एकांत की गहराईयों में गुम गया हूं। मुझे पहली बार मौत का भय सताने लगा। अब जब मैं उसके बारे में सोचता हूं तो मुझे यह

भय बेमानी लगता है। लेकिन तब मैंने उसे बड़ी गंभीरता से लिया था।

आखिर मुझे अस्पताल से तो छुट्टी दे दी गई लेकिन मैं उसे अवसाद से मुक्त नहीं हो पाया। आखिर उस समय के पहले तक मैं किसी चीज पर भरोसा किए हुए था? मैं बेफिक्र और खुद से संतुष्ट था। लेकिन आखिर उस आत्मसंतुष्टि की प्रकृति क्या थी? जीवन और मृत्यु की प्रकृति के बारे में कई शंकाएं मेरे मन में उठ रही थीं। न मैं सो पाता था और न ही कुछ काम कर पाता था। रात-रात भर बंदरगाह में तथा कगार पर टहलने से भी मुझे कोई राहत नहीं मिलती थी।

एक रात भटकते-भटकते मैं बंदरगाह की ओर वाली पहाड़ी पर थकान से चूर हो गिर पड़ा, और एक विशाल वृक्ष के तने से टिक कर ऊंघने लगा। भोर तक मैं वहीं अर्धचेतन अवस्था में पड़ा रहा। मुझे आज तक याद है कि वह 15 मई की सुबह थी। चौंधियाई आंखों से मैंने बंदरगाह पर रोशनी फैलती देखी; सूर्योदय भी मैं देख रहा था और नहीं भी। जैसे ही कगार से बयार बहनी शुरू हुई, अचानक सुबह का कोहरा छंट गया। ठीक उसी क्षण रात का बगुला वहां दिखलाई पड़ा और जोर से चीख मारकर दूर आसमान में उड़ गया। मुझे उसके पंखों के फड़फड़ाने की आवाज तक सुनाई दे रही थी। पल भर में मेरे सारे संदेह दूर हो गए, और शंका-कुशंकाओं की धुंध छंट सी गई। हवा के एक झोंके के साथ मेरे अब तक के सारे विश्वास और संबल उड़ गए। मुझे लगा कि मैं केवल एक चीज समझ रहा हूं। उनके बारे में सोचे बगैर मेरे मुंह से ये शब्द निकल पड़े - 'इस दुनिया में कुछ भी नहीं है...' मुझे लगा कि मैं कुछ भी नहीं समझता।

मुझे समझ में आ गया कि, अभी तक मैं जिन अवधारणाओं के साथ चिपका हुआ था - जो मेरे अस्तित्व का अहसास थीं वे भी सब मनगढंत, खोखली कल्पनाएं थीं। मेरा मन बिल्कुल हल्का और स्वच्छ हो गया। खुशी के मारे मैं झूम उठा। अब मैं पेड़ों पर बैठे परिंदों की चहचहाहट सुन पा रहा था, और उगते सूरज की रोशनी में दूर चमकती समुद्र की लहरें भी मुझे दिखलाई पड़ रही थीं। चमकती हरी पत्तियां नृत्य कर रही थीं। मुझे ऐसा महसूस हुआ जैसे, यही धरती पर स्वर्ग है। अब तक जो भी चीजें मुझ पर हावी थीं वे ,तथा मेरी सारी पीड़ाएं भी स्वप्न और भ्रमों की तरह रफूचक्कर हो गयीं और जिसे हम 'सच्ची प्रकृति' कह सकते हैं, मेरी आंखों के समक्ष साक्षात उजागर हो गई।

मेरे खयाल से यह कहने में कोई हर्ज नहीं होगा कि उस सुबह के अनुभव ने मेरे जीवन को पूरी तरह बदल डाला।

इस परिवर्तन के बावजूद मूल रूप से मैं वही औसत, अज्ञानी व्यक्ति बना रहा और इसमें तब से अब तक कोई फर्क नहीं आया है बाहर से देखने पर आपको मुझसे ज्यादा आम व्यक्ति कोई अन्य नजर नहीं आएगा। मेरी रोजमर्रा की जिंदगी में भी असाधारण कुछ भी नहीं है। लेकिन इस विश्वास में कि मैं यह एक चीज जानता हूं, तब से आज तक कोई फर्क नहीं आया है। मैंने तीस वर्ष, चालीस वर्ष यह जांचते हुए बिता दिए कि मेरी वह धारणा गलत तो नहीं थी। लेकिन अब तक एक बार भी मुझे अपने विश्वास के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिला।

यह अहसास बहुत ही मूल्यवान है। इसका मतलब यह कतई नहीं कि मेरे साथ कोई विशेष मूल्य जुड़

गए हैं। मैं अब भी एक सीधा-सादा आदमी हूं। बल्कि एक सठियाया हुआ बूढ़ा हूं। अकस्मात देखने वालों को मैं या तो बहुत विनयशील नजर आता हूं या बहुत उद्दंड। मैं अपने बगीचे में आए युवाओं से बार-बार कहता हूं कि वे मेरी नकल न करें, और यदि कोई मेरी इस सलाह की अवहेलना करता है तो मुझे वाकई गुस्सा आ जाता है। मैं उनसे सहज प्रकृति के साथ रहते हुए अपना दैनंदिन काम करने को कहता हूं। नहीं, मुझमें खास ऐसा कुछ भी नहीं है, लेकिन जिस चीज की झलक मैंने पाई है वह बहुत ही महत्वपूर्ण है।

3

अपने गांव वापस लौटना

इस अनुभव के अगले दिन यानी 16 मई को मैंने काम पर वापस लौटकर वहीं-के-वहीं अपना इस्तीफा थमा दिया। मेरे वरिष्ठ अधिकारी और मित्र आश्चर्यचकित रह गए। उन्हें समझ में नहीं आया कि इसका क्या मतलब निकाला जाए? उन लोगों ने कगार पर स्थित रेस्ट्रां में मेरे लिए एक विदाई पार्टी भी आयोजित की, लेकिन उसमें भी वातावरण कुछ अजीब सा रहा। मेरे साथी सोच रहे थे, यह युवक जो अभी कल तक सब लोगों के साथ हिल-मिलकर रह रहा था, जिसे अपने काम से भी कोई खास शिकायत नहीं थी, बल्कि जिसने अपनी पूरी लगन के साथ खुद को अपने अनुसंधान कार्य के प्रति समर्पित कर दिया था, उसने अचानक अपनी नौकरी छोड़ने की घोषणा क्यों की? और मैं, मैं बड़े मजे से हंस रहा था।

उस समय मैंने उपस्थित मित्रों से कुछ यों कहा था: 'इस तरफ जहाज-घाट है और उस पार घाट का चौथा खंभा। यदि आप सोचते हैं कि इस तरफ जिंदगी है तो मौत उस तरफ है। यदि आप मौत से छुटकारा पाना चाहते हो तो आपको पहले इस धारणा को त्यागना होगा कि इस पार जिंदगी है। जीवन और मृत्यु एक ही चीज है।'

जब मैंने उपरोक्त शब्द कहे तो सभी लोग मेरे बारे में और भी चिंतित हो गए। 'आखिर यह क्या कह रहा है? जरूर इसका दिमाग चल गया है!' उन लोगों ने सोचा होगा। उन लोगों ने उतरे हुए चेहरों से मुझे विदा किया। अकेला मैं ही था जो उत्साहित मन से तेज-तेज चल रहा था।

कमरे में रहने वाला मेरा साथी भी उन दिनों मेरे बारे में बहुत ही चिंतित था। उसने मुझे सलाह दी कि मैं कुछ दिन आराम करूं, हो सके तो दूर बोसो प्रायद्वीप पर। अत: मैं वहां से चल दिया। उस वक्त मुझसे कोई जहां भी चलने को कहता, मैं वहीं चल देता था। मैं बस में सवार होकर राजमार्ग पर मीलों, खिड़की में से खेतों पर बने चौखाने और छोटे-छोटे गांवों को देखते हुए चला गया। एक जगह जहां बस रुकी, मैंने वही तख्ती लगी देखी 'यूटोपिया' (काल्पनिक आदर्श लोग)। मैं वहीं उतर गया और उसकी तलाश में निकल पड़ा।

समुद्र तट पर एक छोटी सी सराय थी और कगार चढ़ने पर मुझे वाकई एक खूबसूरत जगह नजर आई। मैं सराय में ठहर गया और समंदर की तरफ देखती लंबी-लंबी घासों के बीच ऊंघते मैंने कई दिन बिता दिए। पता नहीं वहां मैं हफ्ता रहा या महीना, लेकिन इतना तय है कि मैं वहां काफी समय तक रहा।

बीतते दिनों के साथ मेरी सुखानभूति भी मध्यम होने लगी, और जो कुछ अभी हाल में घटा था उस मैंने विचार करना शुरू किया। आप कह सकते हैं कि मैं फिर से होश में आने लगा।

वहां से मैं टोकियो जाकर कुछ दिन रहा। मैं रोज पार्क में घूमते-फिरते लोगों को रोककर उनसे बतियाते हुए अपना समय गुजारता और कहीं भी सो जाता। मेरा दोस्त मेरे बारे में चिंतित था। मेरा हाल देखने वह वहां आया। 'क्या तुम किसी स्वप्नदेश में, एक अवास्तविक दुनिया में नहीं जी रहे हो।' हम दोनों एक ही बात सोच रहे थे।' मैं सही हूं और तुम सपनों की दुनिया में जी रहे हो।' जब मेरा दोस्त मुझसे विदाई लेने आया तो मैंने उसके कुछ यूं कहा : 'गुडबॉय मत कहो। विदा होना बस विदा होना है।' लगता हे इसके बाद मेरे दोस्त ने मेरे बारे में उम्मीद छोड़ दी।

मैंने टोक्यो भी छोड़ दिया और कान्साई क्षेत्र (ओसाका, कोबे, क्योतो) से गुजरता हुआ ठेठ दक्षिण में क्यूशू तक आ गया। हवा में तिनके की तरह भटकना मुझे अच्छा लग रहा था। इस दौरान कई लोगों को मैंने अपना यह विचार बतलाया कि हर चीज निरर्थक और मूल्यहीन है। घूम-फिर कर हर चीज बेमानी हो जाती है।

लेकिन सामान्य लोगों के लिए इस विचार को ग्रहण करना या तो बहुत बड़ी बात थी या बहुत छोटी। लोगों के साथ किसी भी तरह का संवाद स्थापित नहीं हो पाया। मैं सिर्फ यही सोचकर तसल्ली पर रहा था कि उपयोगहीनता ही इस असाधारण दुनिया के लिए बड़े काम की चीज है। खास तौर पर उस दुनिया के लिए जो बड़ी तेजी से इसके विपरीत दिशा में भाग रही थी। मैंने एक बार इस विचार को सारे देश में फैलाने के बारे में भी गंभीरता से सोचा। नतीजा यह हुआ कि मैं जहां-जहां भी गया, लोगों ने सनकी समझकर मेरी उपेक्षा की। अंतत: मैं गांव में अपने पिता के खेतों को लौट गया।

उन दिनों मेरे पिता संतरों की खेती कर रहे थे, और मैं पहाड़ी पर एक कुटिया बनाकर आदिम तरीके की सादी जिंदगी जीने लगा। मैंने सोचा कि यहां एक किसान के रूप में नारंगियों और अनाज उगाते हुए यदि मैं अपने अनुभव को वास्तविक रूप से प्रदर्शित कर दूं तो दुनिया को उसकी सच्चाई का पता चल जाएगा। अपने दर्शन के बारे में लोगों को हजार कैफियतें देने से क्या यह बेहतर नहीं होगा कि मैं उसे खुद अपने आचरण में उतार लूं। खेती की 'कुछ-न-करो' की विधि की शुरुआत इसी विचार के साथ हुई। यह काम 1938 यानी तात्कालीन सम्राट के राज्यकाल के तेरहवें बरस में शुरू हुआ।

मैं पहाड़ पर बस गया और तब तक सब कुछ ठीक-ठाक चला। जब मेरे पिता ने बाग के खूब फल देनेवाले पेड़ मुझे सौंपे उस समय तक वे इन पेड़ों को काट-छांटकर 'साके' मदिरा के प्यालों का आकार दे चुके थे, ताकि ऊपर लगे फलों को आसानी से तोड़ा जा सके। जब मैंने उनको इसी हालत में छोड़ दिया तो, हुआ यह कि उनकी शाखाएं आपस में मिल गयीं। कीड़ों ने पेड़ों पर हमला बोल दिया और पूरा बाग कुछ ही दिनों में मुरझा गया।

मेरा विश्वास यह था कि फसलें अपने आप पनपती हैं और उन्हें उगाने की जरूरत नहीं होती। मैं यह मानकर चल रहा था कि हर चीज को अपना स्वाभाविक रास्ता अपनाने के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए। लेकिन बाद में मुझे पता चला कि यदि आप इस तरह के विचार को एकदम लागू कर दें, तो कुछ दिनों बाद आपके नतीजे बहुत अच्छे नहीं होते। यह तो परित्याग होगा, प्राकृतिक कृषि नहीं।

मेरे पिता को एक धक्का लगा। उन्होंने मुझसे कहा कि मुझे अपने आपको फिर से अनुशासित करना होगा। हो सके तो मैं कहीं कुछ और काम तलाश कर लूं। और जब मेरी दिमागी हालत कुछ ठीक हो तभी वापस लौटूं। उन दिनों मेरे पिता गांव के मुखिया थे और बिरादरी के लोगों के लिए, उनके उस सनकी बेटे के साथ निभाना बड़ा कठिन हो रहा था, जो खुद ही दुनिया के साथ अपनी पटरी नहीं बिठा पा रहा था। वर्ना वो अकेले पहाड़ी पर क्यों रहता? इतना ही नहीं, सैनिक सेवा में जाने का विचार भी मुझे नापसंद था, और चूंकि लड़ाई दिनों-दिन और ज्यादा हिंसक होती जा रही थी, इसलिए मैंने विनम्रतापूर्वक पिता की सलाह को मानते हुए कोई नौकरी खोज लेने का फैसला कर लिया।

उन दिनों तकनीकी योग्यता रखनेवाले लोगों की कमी थी। कोची शासकीय परीक्षण केंद्र ने मेरे बारे में सुना और हुआ ऐसा कि मुझे वहां प्रमुख व्याधि तथा कीट नियंत्रण शोधकर्ता का पद देने की पेशकश की गई। कोची शासन की मेहरबानी से मैंने इस पद पर तकरीबन आठ वर्ष तक काम किया। परीक्षण केंद्र के वैज्ञानिक कृषि प्रभाग में मैं सुपरवाईजर बन गया तथा अनुसंधान में मैंने अपना सारा ध्यान युद्धकाल में उत्पादन वृद्धि पर केंद्रित कर दिया। लेकिन वास्तव में उन आठ बरसों के दौरान मैं लगातार वैज्ञानिक और प्राकृतिक कृषि के बीच परस्पर संबंध के बारे में ही सोचता रहा। रासायनिक कृषि, जो मानव बुद्धि से उपजी चीजों का उपयोग करती है, को श्रेष्ठ माना जाता है। जो सवाल मेरे दिमाग में हमेशा मौजूद रहा। वह यह था कि प्राकृतिक कृषि, आधुनिक विज्ञान के सामने टिक सकती है या नहीं।

जैसे ही लड़ाई खत्म हुई मैंने स्वतंत्रता की ताजी हवा को बहते महसूस किया और चैन की सांस लेते हुए नये सिरे से खेती करने के लिए मैं अपने गांव लौट गया।

4

खेती की 'कुछ-मत-करो' विधि की ओर

तीस बरस तक मैं अपनी खेती में ही लगा रहा, और मेरी अपनी बिरादरी के अलावा बाहर के लोगों के साथ मेरा कोई संपर्क नहीं रहा। उन बरसों के दौरान मैं सीधा खेती की 'कुछ-मत-करो' विधि की तरफ बढ़ता चला गया।

कोई भी नई विधि विकसित करने का सामान्य तरीका यही है कि पूछो, 'क्यों न इसे आजमाया जाए?' या 'क्यों न उसे परखा जाए?' ऐसा करते हुए हम कई तकनीकों का उपयोग एक-के-ऊपर-एक करते हैं। आधुनिक कृषि सही है और वह किसानों को ओर भी अधिक व्यस्त बनाती जाती है।

मेरा तरीका बिल्कुल उल्टा था। मेरा लक्ष्य खेती का एक ऐसा सुखद प्राकृतिक तरीका इजाद करना था जो खेती के काम को कठिन की बजाए आसान बनाए। मेरे सोचने का तरीका था: 'यदि हम ऐसा न करें तो क्या होगा? यदि हम वैसा न करें तो कैसा?' मैं अंतत: इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि जोतने, रासायनिक खाद देने या सोनखाद बनाने, तथा कीटनाशकों का उपयोग करने की कतई जरूरत नहीं है। यदि आप ऐसा करने पर वाकई उतर आते हैं तो आपको शायद ही फिर कोई अन्य कृषि-विधियों की जरूरत रह जाती है।

हमें जो मानव की सुधरी हुई तकनीकें नजर आती हैं, उन्हीं तकनीकों के कारण प्राकृतिक संतुलन इतना ज्यादा गड़बड़ा चुका है और जमीन अब उन्हीं पर बुरी तरह निर्भर हो गई है।

यही तर्क-प्रक्रिया कृषि के अलावा मानव समाज के अन्य पहलुओं पर भी लागू होती है। डाक्टरों और दवाओं की जरूरत तभी पड़ती है, जब लोग 'बीमार वातावरण' पैदा करते हैं। औपचारिक शिक्षा की वैसे मानव को कोई जरूरत नहीं होती। लेकिन जब मानव ऐसी स्थिति का निर्माण कर देता है, तो उसको खुद को जीने के लिए शिक्षित करना ही पड़ता है।

युद्ध समाप्त होने के पूर्व जब मैं नारंगी के बागानों में उस चीज को आजमाने पहुंचा, जिसे मैं तब प्राकृतिक खेती समझता था, तो मैंने कोई कटाई-छंटाई न करते हुए उसे उसके हाल पर छोड़ दिया था। शाखें आपस में उलझ गयीं, पेड़ों में कीड़े लग गए और लगभग दो एकड़ क्षेत्र के मेंडेरिन-संतरों के पेड़ मुरझा कर मर गए। तभी से मेरे दिमाग में यह सवाल मंडराता रहा कि, आखिर 'स्वाभाविक तरीका (पैटर्न) क्या है?' इस सवाल के जवाब की खोज में मैंने और 400 पेड़ उखाड़ फेंके। आखिरकार मुझे लगा कि अब मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं 'यही है प्राकृतिक प्रतिरूप'।

कटाई-छंटाई और कीटनाशक उसी सीमा तक आवश्यक होता है, जिस सीमा तक वृक्ष अपने स्वाभाविक आकार-प्रकार से दूर होते हैं। इसी तरह स्कूली शिक्षा की भी तभी जरूरत होती है जब मानव समाज अपने आपको प्रकृति के घनिष्ट सान्निध्य से अलग कर लेता है। प्रकृति में औपचारिक शिक्षण की कोई भूमिका नहीं होती।

बच्चों की परवरिश करते समय भी माता-पिता वही गलती करते हैं जो पहले-पहल मैंने अपने नारंगी के बागानों में की थी। मसलन बच्चों को संगीत की शिक्षा देना उतना ही गैरजरूरी है जितना बागानों के वृक्षों की कटाई। बच्चे के कान संगीत को अपने आप पकड़ते हैं। झरने का कलकल बहना, नदी किनारे मेंढकों का टर्राना, जंगल में पत्तियों की सरसराहट आदि प्राकृतिक ध्वनियां ही संगीत, सच्चा संगीत है। लेकिन जब कई प्रकार की शोरनुमा ध्वनियां इसमें हस्तक्षेप करते हुए बच्चों के कानों को उलझाती हैं, बच्चों की संगीत में रस लेने की प्रत्यक्ष और शुद्ध क्षमता बिगड़ने लगती है। यदि उसे इसी राह पर आगे चलने दिया गया तो बच्चा परिंदे की पुकार और हवाओं की सरसराहट का संगीत कभी नहीं सुन पाएगा। और इसलिए बच्चे के विकास के लिए संगीत की शिक्षा फायदे की बात लगने लगेगी।

जिस बच्चे की परवरिश स्पष्ट और शुद्ध श्रवण-शक्ति के साथ होती है, वह हो सकता है वायलिन या पियानो पर लोकप्रिय धुनें न बजा सके, लेकिन मैं नहीं समझता कि सच्चा संगीत सुनने या गाने की क्षमता के साथ इसका कोई संबंध है। बच्चे को संगीत की देन प्राप्त है यह तभी कहा जा सकता है, जब उस बच्चे का मन अपने आप संगीत से भर उठता है।

लगभग हर व्यक्ति यह तो मानता है कि 'कुदरत' एक अच्छी चीज है। लेकिन ऐसे लोग कम ही हैं जो प्राकृतिक और अप्राकृतिक के बीच मौजूद फर्क को समझ सकें।

यदि एक मात्र नई कली को किसी फलदार वृक्ष में कैंची से काटकर अलग कर दिया जाए तो उससे एक ऐसी अव्यवस्था पैदा हो सकती है जिसे फिर दुबारा ठीक नहीं किया जा सकता। अपने स्वाभाविक

आकार में बढ़ते हुए वृक्ष की शाखाएं तने से, जो बारी-बारी से निकलती (फूटती) है, उससे उन्हें सूर्य का प्रकाश एक-समान मात्रा में मिलता है। यदि इस क्रम को भंग कर दिया जाए तो शाखाओं में 'टकराव' पैदा हो जाता है। वे एक-दूसरे पर आकर आपस में उलझ जाती हैं, और जिस स्थान पर सूर्य की किरणें प्रवेश नहीं कर पातीं, वहां की पत्तियां मुरझा जाती हैं। यहीं से कीड़े लगना भी शुरू हो जाते हैं। यदि वृक्ष की कटाई-छंटाई नहीं की गई तो अगले वर्ष कुछ और शाखें मुरझा जाएंगी।

छेड़-छाड़ करने के अपने स्वभाव के कारण इंसान पहले तो कुछ गलत काम करता है, फिर उस नुकसान को बिना सुधारे वैसा ही छोड़ देता है, और जब नुसकान इकट्ठा होकर खूब बढ़ जाता है तो फिर उसे दुरुस्त करने के लिए जी-जान से भिड़ता है। जब सुधार की कार्यवाही में उसे कुछ सफलता मिल जाती है तो वह इन उपायों को अपनी शानदार उपलब्धि मानने लगता है। लोग बार-बार यही करते हैं। यह ठीक वैसी ही चीज है जैसे कोई बेवकूफ पहले तो अपने घर की छत के कबेलुओं को उन पर चल कर तोड़ डाले और जब बारिश होने लगे और छत सड़ने लगे तो वह तेजी से ऊपर चढ़कर उसकी मरम्मत करे, और अंत में इस बात से फूला न समाए कि आखिर उसने समस्या का एक चमत्कारी हल पा ही लिया।

ठीक यही बात वैज्ञानिकों पर भी लागू होती है। वे दिन-रात पोथियां पढ़कर उनमें अपनी आंखें गढ़ाकर अपनी देखने की क्षमता खो देते हैं, और यदि आप उनसे पूछें कि आखिर वे इतने समय से क्या कर रहे हैं तो आपको बताएंगे कि कमजोर दृष्टि को ठीक करने के लिए चश्मे के आविष्कार में लगे हैं।

5

हमें वापस अपनी जड़ों की ओर लौटना होगा

अपने काम को घड़ी भर रोक, मैं अपनी दराती की लंबी मूठ के सहारे टिककर, दूर पहाड़ियों की ओर तथा नीचे गांव को निहारता हूं। बड़ा अचरज होता है मुझे यह देखकर कि लोगों के विचार ऋतु-चक्र से भी ज्यादा तेजी से बदलने लगे हैं।

प्राकृतिक-तरीके से खेती करने का मैंने यह जो रास्ता चुना है उसे पहले ही विज्ञान की दु:साहसी प्रगति और आविष्कारों के विरुद्ध प्रतिक्रिया कहा गया। जब कि यहां देहात में आकर खेती करते हुए जो चीज मैं लोगों को बताने की कोशिश कर रहा हूं, वह यह है कि, मानवता को अभी कुछ पता नहीं है। चूंकि दुनिया इससे ठीक विपरीत दिशा में इतनी तेजी से बढ़ रही है कि लोगों को ऐसा लग सकता है कि मैं समय के साथ कदम मिलाकर नहीं चल पर रहा हूं। लेकिन मैं पूरे विश्वास के साथ मानता हूं कि मैं जिस राह पर चल रहा हूं वही सबसे समझदारी का रास्ता है।

पिछले कुछ बरसों के दौरान प्राकृतिक खेती में दिलचस्पी रखने वालों की संख्या काफी बढ़ी है। ऐसा लगता है कि वैज्ञानिक विकास की सीमा भी अब आ गई है, उसके बारे में गलत धारणाओं का अहसास लोगों को होने लगा है और उसके पुनर्मूल्यांकन की घड़ी आ गयी है। जिस चीज को अब तक पिछड़ापन या प्रागैतिहासिक माना जाता था उसे अब आधुनिक विज्ञान से आगे की चीज माना जाने लगा है। पहली बार तो यह बात कुछ अजीब सी लग सकती है, लेकिन मुझे वह जरा भी वैसी नहीं लगती।

मैंने हाल में ही इस बात की चर्चा क्योतो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर आईनुमा से भी की। आज से एक हजार वर्ष पूर्व जापान में खेती बिना जुताई के की जाती थी। 300-400 वर्ष पहले तोलूगाता-युग में भी यही स्थिति रही। उसके बाद पहली बार उथली खेती की शुरुआत की गई। जापान में गहरी जुताई का आगमन पाश्चात्य खेती के आगमन से हुआ। मैंने उनसे कहा कि भविष्य की समस्याओं से निपटने के लिए आनेवाली पीढ़ियों को वापस गैर-जुताई विधियों की तरफ लौटना होगा।

बिना हल से जुते खेतों में फसलें लगाना हमें खेती के आदिम तरीके की तरफ लौटना नजर आ सकता है। लेकिन पिछले बरसों के दौरान विश्व विद्यालयों की प्रयोगशालाओं तथा देशभर में फैले कृषि परीक्षण केंद्रों में यह प्रमाणित किया जा चुका है कि यह विधि प्रचलित सभी विधियों से ज्यादा सफल तथा कार्यप्रभावी है। हालांकि खेती की यह विधि आधुनिक-विज्ञान को नकारती है। वह अब आधुनिक कृषि-विकास प्रक्रिया के सबसे अगले मोर्चे पर आ खड़ी हुई है।

मैंने सीधी बुआई - बिना जुताई के, बारी-बारी से खरीफ के अनाज और चावल की खेती की है विधि कृषि पत्रिकाओं में बीस बरस से भी पहले प्रकाशित की थी, और तब से अब तक उस बारे में कई बार छपता रहा है। आम जनता को रेडियो और टेलिविजन कार्यक्रमों से भी उसका पता चला, लेकिन किसी ने भी उस पर कोई खास ध्यान नहीं दिया।

अब, लेकिन अचानक प्राकृतिक खेती जैसे फैशन में आ गई है। ढेर सारे पत्रकार, प्रोफेसर तथा तकनीकी अनुसंधान-कर्ता मेरे खेतों तथा पहाड़ी पर स्थित मेरी कुटिया में मुझे से मिलने आने लगे हैं।

भिन्न-भिन्न लोग इसे भिन्न-भिन्न कोणों से देखते हैं। अपने हिसाब से उसकी व्याख्या करते हैं और चले जाते हैं। किसी को यह खेती आदिम लगती है तो किसी को पिछड़ी हुई और कुछ को यह कृषि-उपलब्धियों का शिखर चूमती नजर आती है। तथा वे उसे भविष्य की सबसे बड़ी सफलता मानते हैं। आमतौर से लोगों को सिर्फ इस बात से मतलब है कि - यह विधि भविष्य की प्रगति का प्रतीक है या पुराने जमाने का पुनरागमन है। कुछ ही लोग इस तथ्य को ठीक से पकड़ पाते हैं कि - प्राकृतिक कृषि का उद्‌गम कृषि विकास के सनातन तथा अपरिवर्तनशील केंद्र से ही होता है।

लोग जिस प्रमाण में स्वयं को प्रकृति से दूर करते हैं उतने ही ज्यादा दूर वे, इस केंद्र से होते चले जाते हैं, लेकिन इसके साथ ही एक केंद्राभिमुखी प्रभाव अपने आपको अभिव्यक्त करता है, और उनमें प्रकृति की गोद में वापस लौटने की इच्छा बलवती होने लगती है। लेकिन यदि लोग सिर्फ प्रतिक्रिया के चक्कर में पड़कर, परिस्थितियों के अनुसार केवल बाएं या दाएं सरककर ही रह जाते हैं, तो उसका नतीजा और अधिक क्रियाओं के रूप में सामने आता है। उद्‌गम का स्थित केंद्र, जो सापेक्षता के नियमों के दायरे के बाहर होता है, की तरफ उनका ध्यान ही नहीं जाता और वे उसकी ओर अनदेखी कर जाते हैं। मेरे विचार से तो 'प्रकृति को वापस लौटने' तथा प्रदूषण विरोधी गतिविधियां, भले ही वे कितनी ही प्रशंसनीय क्यों न हों, भी किसी वास्तविक हल की तरफ अग्रसर नहीं होतीं। यदि वे आज के इस अंधाधुंध विकास की मात्र प्रतिक्रियाएं होकर रह जाती हैं।

प्रकृति कभी नहीं बदलती, परंतु प्रकृति के प्रति हमारा नजरिया हर युग में हमेशा बदलता रहा है। कोई

भी युग हो, कृषि के आदिम स्रोत के रूप में प्राकृतिक खेती का अस्तित्व हमेशा बना रहता है।

6

एक कारण, प्राकृतिक कृषि के विस्तार न होने का

पिछले तीस-बरसों के दौरान चावल और जाड़े के अनाज की खेती के इस तरीके को विभिन्न जलवायु तथा प्राकृतिक परिस्थितियों में आजमाया गया है। जापान के लगभग हर प्रशासकीय क्षेत्र में 'सीधे-सीधे बीज बोने और 'जुताई रहित' कृषि के इस तरीके पर धान-चावल उगाने और जौ तथा राई की खेती की सामान्य टीले और नालियोंवाली विधि के साथ तुलनात्मक परीक्षण किए गए। इन परीक्षणों में ऐसे कोई प्रमाण प्राप्त नहीं हुए जो प्राकृतिक कृषि को हर कहीं लागू करने के खिलाफ जाते हों।

तो यह सवाल पूछा जा सकता है कि क्यों इस सच्चाई का प्रसार नहीं हो पाया। मेरे खयाल से इसका एक कारण यह है कि हमारी दुनिया में विशिष्ठीकरण (स्पेशलाइजेशन) इतना ज्यादा हो चुका है कि हम किसी भी चीज को उसकी समग्रता-संपूर्णता के साथ ग्रहण नहीं कर पाते। मसलन, कोची प्रशासकीय परीक्षण-केंद्र का एक कीड़ों की बीमारियों का विशेषज्ञ मुझसे यह पूछने के लिए आया कि मेरे द्वारा कोई कीटनाशी न उपयोग करने के बावजूद मेरे खेतों में धान की पत्तियों पर बैठनेवाले टिड्डे इतने कम क्यों हैं? कीटों को बसने की जगह, कीटों तथा उनके प्राकृतिक शत्रुओं के बीच संतुलन, मकड़ियों के प्रजनन की दर आदि की जांच-पड़ताल, करने के बाद पाया गया कि मेरे खेतों में भी 'लीफ हॉपर' कीट उतने ही कम थे, जितने की उक्त केंद्र के उन खेतों में जहां कई प्रकार के घातक कीटनाशी रसायन असंख्य बार छिड़के जाते हैं।

इसी प्रोफेसर को यह जानकर भी बड़ा आश्चर्य हुआ कि रसायन छिड़के हुए खेतों के बजाए, मेरे खेतों में जहां हानिकारक कीटों की संख्या कम थी, वहीं उनके प्राकृतिक भक्षकों की संख्या बहुत ज्यादा थी। बाद में उसे अचानक यह बात समझ में आई कि खेतों को इस हालत में विभिन्न कीट बिरादरियों के बीच प्राकृतिक संतुलन बनाये रखने के द्वारा ही लिया जा सका है। उसने यह स्वीकार किया कि यदि मेरे तरीके को व्यापक रूप से अपना लिया जाए तो 'लीफ हॉपर' कीड़े के द्वारा फसलों की हानि की समस्या को हल किया जा सकता है। इसके बाद ये प्रोफेसर महोदय कार में बैठकर कोची वापस लौट गए।

अब यदि आप जानना चाहें कि उक्त परीक्षण केंद्र के मिट्टी उर्वरता या फसल-विशेषज्ञ बाद में कभी हमारे यहां पधारे या नहीं, जो जवाब होगा नहीं, वे यहां कभी नहीं आए और यदि आप किसी सम्मेलन या गोष्ठी में यह सुझाव दें कि इस विधि का व्यापक तौर पर उपयोग किया जाए तो शासन या परीक्षण-केंद्र का जवाब, मेरे हिसाब से होगा, 'माफ कीजिए, अभी उसका समय नहीं आया है। अपनी अंतिम स्वीकृति देने के पहले हमें हर कोण से इस बारे में अनुसंधान करना होगा।' और उनके किसी नतीजे पर पहुंचने में बरसों लग जाएंगे।

हर बार ऐसी ही बातें होती हैं। सारे जापान के विशेषज्ञ और तकनीशियन इस फार्म पर आ चुके हैं। अपनी-अपनी विशेषज्ञता के हिसाब से प्रत्येक अनुसंधान-कर्ता ने इन खेतों के श्रेष्ठ नहीं तो कम-से-कम

संतोषजनक तो पाया ही है। लेकिन उक्त परीक्षण-केंद्र के उक्त प्रोफेसर के यहां आने के बाद के पांच-छह वर्षों में कोची प्रशासन-क्षेत्र में शायद ही कोई परिवर्तन आया है।

इस वर्ष किन्की विश्वविद्यालय के कृषि विभाग में एक प्राकृतिक कृषि परियोजना तैयार की गई है। जिसके अंतर्गत विभिन्न विभागों के छात्र यहां आकर जांच-पड़ताल करेंगे। हो सकता है कि यह तरीका उन्हें लक्ष्य के कुछ करीब ले जाए, लेकिन मुझे शंका है कि उनकी अगली चाल उन्हें दो कदम, ठीक विपरीत दिशा में ले जाएगी।

अपने आपको विशेषज्ञ मानने वाले लोग अक्सर पूछते हैं; 'इस विधि का बुनियादी विचार तो ठीक-ठाक है, लेकिन मशीन के द्वारा कटाई करना क्या ज्यादा सुविधाजनक नहीं होगा? या किन्हीं खास मामलों में या वक्त पर उर्वरकों का उपयोग यदि आप करें तो क्या पैदावार अधिक नहीं हो जाएगी।' ऐसे लोग हमेशा मिलते रहते हैं जो प्राकृतिक और वैज्ञानिक कृषि के बीच ताल-मेल बैठाना चाहते हैं।

लेकिन इस तरह की सोच मूल मुद्दे को ही पकड़ने से चूक जाती है। जो किसान समझौते या बीच के रास्ते की तरफ बढ़ता है वह विज्ञान की, उसकी बुनियाद के स्तर पर, आलोचना करने का अधिकारी नहीं रह जाता।

प्राकृतिक कृषि सहज और सौम्य है। तथा आपको वह कृषि के मूल स्रोत की ओर वापिस लौटने का संकेत करती है। इस स्रोत से एक कदम भी दूर हटने पर हम पूरी तरह भटक जाते हैं।

7

मानवता, नहीं पहचानती, जानती प्रकृति को

इधर कुछ समय से मेरे मन में विचार आ रहा है कि किसी बिंदु पर पहुंचने के लिए किसानों के साथ ही वैज्ञानिक, कलाकार, दार्शनिक और धर्म के क्षेत्र में काम करनेवाले भी लोग यहां एकत्र हों। इन खेतों को देखें और आपस में बातचीत करें। लोग अपनी-अपनी विशेषताओं के परे जाकर देखें। इसके लिए ऐसा होना ही चाहिए।

वैज्ञानिक सोचते हैं कि वे प्रकृति को समझ सकते हैं। वे यह दावा इसलिए करते हैं कि उनको इस बात का पूरा विश्वास हो चुका है कि वे प्रकृति को जान सकते हैं। वे प्रकृति की जांच कर, उसे मानव के लिए उपयोगी बनाने के लिए प्रतिबद्ध हैं। लेकिन मेरे विचार से प्रकृति इंसान की बुद्धि से परे की चीज है।

यहां पहाड़ियों पर झोपड़ियों में रहते हुए प्राकृतिक खेती में मदद करते हुए कुछ सीखनेवाले युवाओं से, मैं अक्सर कहता हूं कि पहाड़ पर उग रहे वृक्षों को तो कोई भी देख सकता है। उनकी पत्तियों का हरापन तो नजर आता है। धान के पौधों को भी वे देख सकते हैं। वे सोचते हैं कि उन्हें पता है हरियाली क्या है। रात-दिन प्रकृति के संपर्क में आते हुए वे समझने लगते हैं कि वे प्रकृति को जान गए हैं। लेकिन जैसे ही उन्हें लगने लगे कि वे प्रकृति को समझने लगे हैं, तब उन्हें यह निश्चित जानना चाहिए कि वे गलत रास्ते पर हैं।

आखिर प्रकृति को समझना असंभव क्यों है? जिस चीज को हम प्रकृति मानते हैं, वह वास्तव में हर व्यक्ति के दिमाग में प्रकृति के बारे में उठनेवाला उसका अपना विचार मात्र है। जिन्हें वास्तविक प्रकृति दिखाई देती है वे हैं शिशु। वे ही बगैर चिंतन (तर्क-वितर्क) किए प्रकृति को सीधे और स्पष्ट देख पाते हैं। यदि पौधों के नाम भी पता चल जाते हैं कि यह नारंगी की प्रजाति का मेंडेरिन संतरा है, या वह देवदार-जाति की चीड़ है, तो भी प्रकृति अपने असली रूप में नहीं नजर आती।

समग्रता से अलग करके देखी हुई कोई भी वस्तु असली चीज नहीं होती।

विभिन्न अनुशासनों से जुड़े लोग खेतों में धान की एक डंठल को देखते हैं, तो कीड़ों की बीमारियों के विशेषज्ञ को केवल कीड़े से हुई क्षति ही नजर आती है। पौध-पोषकता विशेषज्ञ केवल पौधे की पुष्टता पर ध्यान देता है। आज की स्थिति में इस एकांगिता को टाला नहीं जा सकता।

उदाहरण के तौर पर, अनुसंधान केंद्र से आए एक भले आदमी से, जब वह धान के टिड्डे और मेरे खेत की मकड़ियों की जांच-पड़ताल कर रहा था, मैंने कहा, "प्रोफेसर महोदय, चूंकि आप मकड़ियों पर अनुसंधान कर रहे हैं, पर आपकी दिलचस्पी, टिड्डे के बहुत से प्राकृतिक-भक्षकों में से, केवल एक में ही है। इस बरस मकड़ियां बहुतायत से पैदा हो गई है, लेकिन पिछले बरस यहां भेक (टोडज) बहुत थे। इसके पिछले साल ज्यादा संख्या मेंढकों की थी। ऐसे परिवर्तन असंख्य हैं।"

कीटों (प्राणियों) की परस्पर रिश्तेदारी की जटिलताएं भी इतनी है कि किसी भी विशिष्ट अनुसंधान के तहत किसी खास वक्त पर किसी एक परभक्षी की भूमिका को समझ पाना असंभव है। कुछ ऐसे भी मौसम होते हैं, जब पत्तियों पर बैठने वाले टिड्डों की आबादी कम होती है। तब मकड़ियों की संख्या ज्यादा होती है। ऐसे भी दिन होते हैं जब बारिश खूब हो जाने से मेंढक खूब हो जाते हैं और मकड़ियों को चट कर जाते हैं। या फिर बारिश कम होने से न तो टिड्डे कहीं नजर आते हैं न मेंढक ही।

कीट-नियंत्रण की वे विधियों, जो खुद कीटों की परस्पर रिश्तों को नजरअंदाज करती है, बिल्कुल बेकार हैं। मकड़ियों और टिड्डों पर अनुसंधान करते समय मेंढकों और मकड़ियों के बीच के रिश्ते पर भी विचार किया जाना चाहिए। जब बात इस मुकाम पर पहुंचेगी तो हमें मेंढक विशेषज्ञ की भी जरूरत पड़ेगी। बाद में इस शोध में मकड़ी, टिड्डा तथा चावल विशेषज्ञ के अलावा एक जल-प्रबंधन विशेषज्ञ को भी शामिल होना होगा।

इसके अलावा इन खेतों में मकड़ियों की भी चार या पांच किस्में हैं। मुझे याद है कुछ बरस पहले एक व्यक्ति सुबह-सुबह मेरे घर दौड़ा आया और पूछने लगा कि, 'क्या मैंने अपने खेतों को रेशम की जाली या किसी ऐसी चीज से ढंक दिया है।' मेरी समझ में नहीं आया कि वह क्या कह रहा है। सो मैं खुद अपनी आंखें से मामला क्या है, यह देखने भागा।

हम लोगों ने कुछ ही समय पूर्व चावल की फसल काटी थी, और रातों-रात धान के ठूंठ और नीचे उगी हुई घास मकड़ी के जालों के ढंक गई थी। वही रेशम की चादर जैसे दिखाई दे रहे थे। सुबह के कोहरे में चमकते और लहराते वे मकड़ी के जाले एक शानदार दृश्य उपस्थित कर रहे थे।

इस अद्‌भुत घटना के बारे में खास बात यह है कि जब भी ऐसा होता है और यह बहुत दिनों में एक

बार होता है, तो वह सिर्फ एक या दो दिनों तक टिकता है। ध्यान से देखने पर यह पता चलेगा कि हर वर्ग इंच क्षेत्र में कई-कई मकड़ियां हैं। वे खेत में इतनी सघनता से फैली रहती हैं कि आपको कहीं, खाली जगह दिखाई ही नहीं देगी। एक चौथाई एकड़ क्षेत्र में तो हजारों-लाखों की तादाद में भी हो सकती हैं। दो-तीन दिन बाद खेत पर जाने पर कई-कई गज लंबे जालों के टुकड़े टूट कर हवा में लहराते हैं, और हर जाले के साथ पांच-छह मकड़ियां चिपकी हुई होती है। यह नजारा वैसा ही होता है, जैसे हवा में देवदार के बीज या डेंडेलियन के रोयें उड़ गए हो। नन्हीं-नन्हीं मकड़ियों जालों के टुकड़ों से चिपटी आसमान मैं तैरती-इतराती रहती है। इस अद्‌भुत प्राकृतिक लीला को देखकर आप सहमत होंगे कि कवियों और कलाकारों को भी इस सम्मेलन में शरीक होना चाहिए।

जैसे ही रसायन खेत में छिड़के जाते हैं, यह सब क्षण भर में नष्ट हो जाता है। एक बार मैंने सोचा कि चूल्हों की राख इन पर छिड़कने में कोई हर्ज नहीं होगा। (श्री फुकूओका लकड़ी की राख तथा अन्य घरेलू जैव-कूड़े से खाद बनाकर उसका उपयोग अपने छोटे से सब्जी बाग में करते हैं।) नतीजा यह हुआ कि दो या तीन दिन बाद खेत में एक भी मकड़ी नहीं थी। राख के कारण जाली के तिनके अपने आप बिखर गए थे, और हजारों-लाखों मकड़ियां मुट्ठी भर, मासूम नजर आनेवाली राख की बलि चढ़ गई। कीटनाशक का प्रयोग सिर्फ टिड्डों या उसके प्राकृतिक भक्षकों से निजात पाने का ही मामला नहीं है। इससे प्रकृति के कई आवश्यक व्यापार भी प्रभावित होते हैं।

शरद ऋतु में इन मकड़ियों के झुंडों का धान के खेतों में आने, और इस तरह अचानक गायब हो जाने का रहस्य अभी तक समझा नहीं जा सका है। कोई नहीं जानता कि वे वहां पर कहां से आती हैं, सर्दियों में कैसे जिंदा रहती हैं तथा गायब होने पर वे कहां चली जाती हैं।

यानी रसायनों का उपयोग केवल पक्षी-वैज्ञानिकों की ही समस्या नहीं है। दार्शनिकों, धर्मवेत्ताओं, कलाकारों तथा कवियों को भी यह तय करने में मदद करनी होगी कि रासायनिक कीटनाशकों का उपयोग करना चाहिए या नहीं, या जैव-उर्वरक के प्रयोग तक के नतीजे क्या होंगे।

इस जमीन पर चौथाई एकड़ क्षेत्र से हम लगभग 22 बुशेल (500 किलो) चावल तथा इतनी ही खरीफ की फसल लेंगे। यदि फसल 29 बुशेल तक पहुंच जाती है, जैसा कि कई बार होता है, तो इससे ज्यादा पैदावार आपको खोजने पर भी शायद कहीं भी पैदा होती नहीं मिलेगी। चूंकि इस अनाज की खेती के साथ उन्नत प्रौद्योगिकी का कोई वास्ता नहीं रहा, यह आधुनिक विज्ञान के विरोधाभासों का एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो भी यहां आकर इन खेतों को देखता है और उनकी गवाही को कबूल करता है, उसे इस बात को लेकर काफी गहरी शंकाएं होने लगेंगी कि मानव, प्रकृति को समझता भी है या नहीं, और यह उसकी बुद्धि की बिसात में भी है या नहीं कि वह प्रकृति को जान समझ लें।

विडंबना यह है कि विज्ञान ने हमारी केवल इतनी ही सेवा की है कि उसने हमें बता दिया कि मानव की जानकारी कितनी सीमित है।

प्राकृतिक खेती के चार सिद्धांत

इन खेतों में जरा संभल कर आयें। तरह-तरह के पतंगे और मधुमक्खियां उड़ रहे हैं। मधुमक्खियां एक फूल से दूसरे की तरफ भागी जा रही हैं। जरा पत्तियों को हटाकर देखें तो आपको कीड़ें, मकड़ियों, मेंढक, गिरगिट तथा कुछ और छोटे-बड़े प्राणी ठंडी छांव में इधर-उधर भागते नजर आएंगे। मिट्टी की सतह के नीचे दीमक और केंचुए छिपे हुए हैं।

यही है धान के खेतों की संतुलित परिस्थिति की प्रणाली। यहां कीट और पौधों की बिरादरियां एक तरह का सुस्थिर संबंध बनाए रखती है। इस इलाके में से भी पौध व्याधियों को गुजरना कोई नई बात नहीं है, लेकिन वे इन खेतों को अप्रभावित छोड़ देते हैं।

और अब देखिए मेरे पड़ोसी के खेत को। यहां से खरपतवार, शाकनाशियों तथा फसल के द्वारा हटा दिए गए हैं। उस जहर ने मिट्टी के जीव तथा कीड़े खत्म कर दिए हैं। रासायनिक उर्वरकों ने मिट्टी के जैव-पदार्थों तथा सूक्ष्म जीव-जंतुओं को जलाकर राख कर दिया है। गर्मियों के मौसम में आप किसानों को हाथ में रबर के दस्ताने तथा गैस मुखौटे लगाए हुए खेतों में काम करते देख सकते हैं। ये धान के खेत, जिन पर किसान डेढ़ हजार साल में खेती कर रहे हैं, एक ही पीढ़ी की शोषक कृषि प्रथाओं के कारण बंजर बना दिए गए हैं।

चार सिद्धांत

पहला सिद्धांत है, खेतों में कोई जुताई नहीं करना। यानी न तो उनमें जुताई करना, और न ही मिट्टी पलटना। सदियों से किसानों ने यह सोच रखा है कि फसलें उगाने के लिए हल अनिवार्य है। लेकिन प्राकृतिक कृषि का बुनियादी सिद्धांत खेत को न-जोतना है। धरती अपनी जुताई स्वयं स्वाभाविक रूप से पौधों की जड़ों के प्रवेश तथा केंचुओं व छोटे प्राणियों, तथा सूक्ष्म जीवाणुओं के जरिए कर लेती है।

दूसरा सिद्धांत है कि किसी भी तरह की तैयार खाद या रासायनिक उर्वरकों का उपयोग न किया जाए।

तीसरा सिद्धांत है, निंदाई-गुड़ाई न की जाए। न तो हलों से न शाकनाशियों के प्रयोग द्वारा। खरपतवार मिट्टी को उर्वर बनाने तथा जैव-बिरादरी में संतुलन स्थापित करने में प्रमुख भूमिका निबाहते हैं। बुनियादी सिद्धांत यही है कि खरपतवार को पूरी तरह समाप्त करने की बजाए नियंत्रित किया जाना चाहिए। मेरे खेतों में प्रभावी खरपतवार नियंत्रण के लिए में पुआल बिछाने, फसल में बीच-बीच में सफेद मेथी उगाने तथा अस्थाई जैसे तरीके अपनाता हूं।

चौथा सिद्धांत रसायनों पर बिल्कुल निर्भर न करना है।

जोतने तथा उर्वरकों के उपयोग जैसी गलत प्रथाओं के कारण जब से कमजोर पौधे उगना शुरू हुए, तब से ही खेतों में बीमारियां लगने तथा कीट-असंतुलन की समस्याएं खड़ी होनी शुरू हुई। छेड़-छाड़ न करने से प्रकृति-संतुलन बिल्कुल सही रहता है। नुकसानदेह कीड़े तथा बीमारियां तो मौजूद हमेशा ही

रहती हैं, लेकिन प्रकृति में वे इतनी ज्यादा कभी नहीं हो जाती कि उनके लिए विषाक्त रसायनों का उपयोग किया जाए। बीमारियों तथा कीटों के बारे में समझदारी वाला तरीका यही है कि स्वस्थ पर्यावरण में हष्ट-पुष्ट फसले उगाई जाएं।

जमीन की जुताई

मिट्टी की जब जुताई की जाती है, तो उसका प्राकृतिक पर्यावरण इतना बदल जाता है कि आप उसे पहचान नहीं सकते। इस तरह के कारनामों के कारण ही किसानों की नींद पीढ़ियों से उड़ती चली आ रही है। मसलन, जब भी किसी प्राकृतिक क्षेत्र में हल चलाया जाता है, वहां की वनस्पतियों पर घास तथा खरपतवार भारी मात्रा में उग कर हावी हो जाते हैं। इस बार इन खरपतवारों की जड़ें जमीन में जम जाने पर किसानों को उनकी निंदाई हर साल करनी पड़ती है।, और यह काम इतना असंभव हो जाता है कि कई बार उन्हें जमीन को ही त्याग देना पड़ता है।

इस तरह की समस्याओं से निपटने का एक मात्र समझदारी भरा तरीका यही है कि उन अप्राकृतिक प्रथाओं को तत्काल बंद कर दिया जाए जिनके कारण ही यह समस्या खड़ी हुई। जो नुकसान हुआ है उसकी मरम्मत करने की जिम्मेदारी किसान की भी होती है। भूमि का जुताई (हल चलाना, निंदाई, गुड़ाई) बंद कर देना चाहिए। यदि मानव-निर्मित रसायनों तथा मशीनों के जरिए सब कुछ समाप्त कर देनेवाली जंग छेड़ने की बजाए पुआल फैलाने तथा मेथी उगाने जैसे सौम्य तरीके अपनाए जाएं तो पर्यावरण धीरे-धीरे अपने स्वाभाविक संतुलन की तरफ वापस लौटेगा, और हो सकता है, आप परेशानी कर रही खरपतवार का नियंत्रण कर लें।

उर्वरक

भूमि उर्वरता-विशेषज्ञों से बतियाते हुए मैं अक्सर पूछता हूं: 'यदि किसी खेत को अपने हाल पर छोड़ दिया जाए तो इससे उसकी उर्वरता घटेगी या बढ़ेगी?' अक्सर वे थोड़ा सोचते हैं और फिर कुछ यूं कहते हैं : 'देखिए... वह तो बिगड़ ही जाएगी।' नहीं, वह नहीं बिगड़ेगी, यदि आप याद रखें कि एक ही खेत में यदि लंबे समय तक चावल बिना उर्वरक दिए उगाया जाता रहा है तो पैदावार प्रति चौथाई एकड़ 9 बुशेल (250 किलो) पर जम जाती है। जमीन न तो समृद्ध होगी, न वह बिगड़ेगी।

वे विशेषज्ञ उन खेतों का जिक्र कर रहे हैं, जो जल-प्लावित और जोते हुए हैं। यदि प्रकृति के साथ दखलंदाजी न की जाए तो उर्वरता बढ़ती है। पौधों और जीवों के अवशेष एकत्र होते जाते हैं। मिट्टी की सतह पर फफूंद और कीड़ों के द्वारा वे सड़ाए जाते हैं। वर्षा जल के साथ ये मिट्टी के भीतर गहराई तक पहुंच, कोंचुओं, सूक्ष्म-जीवाणुओं तथा अन्य प्राणियों की खुराक बनते हैं। पौधों की जड़ें मिट्टी के निचले स्तर तक पहुंचकर वापस इन पोषक तत्वों को खींच कर ऊपरी सतह तक लाती हैं।

यदि आप धरती की स्वाभाविक उर्वरता का जायजा लेना चाहें तो कभी इस पहाड़ी के जंगली इलाकों की सैर करें। आप देखेंगे कि वहां लंबे-तगड़े वृक्ष उग रहे हैं, और उन्हें कभी किसी ने कोई खाद-पानी नहीं दिया। प्रकृति की अपनी खुद की उर्वरता ही काफी होती है।

प्राकृतिक वन-आवरण को काट दीजिए, फिर वहां जापानी लाल देवदार या तून के झाड़ को कुछ

पीढ़ियों तक उगाते रहिए। आप देखेंगे कि वहां की जमीन बिगड़ कर भू-क्षरण होने लगा है। दूसरी तरफ आप लाल चिकनी मिट्टीवाली बंजर पहाड़ी लीजिए, और वहां अल्फाअल्फा घास तथा मेथी के जमीनी आवरण के बीच देवदार तथा तून के पेड़ बो दीजिए। खाद मिट्टी को नर्म और समृद्ध बनाती है, वृक्षों के नीचे खरपतवार और झाड़ियां उगने लगती हैं, और उसके साथ ही पुनर्जनन का एक नया चक्र शुरू हो जाता है। ऐसे भी उदाहरण देखने में आए हैं, जब कि मिट्टी की ऊपरी चार इंची सतह, दस से भी कम वर्षों में समृद्ध हो गई।

कृषि फसलें उगाने के लिए भी तैयार की हुई खाद (उर्वरक) का उपयोग बंद कर दिया जाना चाहिए। अधिकांशतः हरी खाद का स्थाई आवरण तथा सादे-पुआल और भूसे को वापस खेत में फैला देना पर्याप्त होगा। पुआल को सड़ने के लिए मैं खेत में बत्तखों को खुला छोड़ देता था। यदि इन्हें चूजों के रूप में उस समय खेत में छोड़ा जाए, जब कि पौधे अभी अंकुरित ही हुए हैं तो, बत्तखें भी चावल के साथ-साथ ही बढ़ती हैं। बस, केवल दस बत्तखों की बीट के रूप में चौथाई एकड़ के खेत के लिए पर्याप्त खाद प्राप्त हो जाती है। और ये खरपतवार को भी काबू में रखती है।

मैं ऐसा बरसों करता रहा। बाद में यहां राष्ट्रीय राजमार्ग बन जाने से बत्तखों के लिए सड़क पार कर खेतों में जाकर वापस अपने दबड़ों में लौटना मुश्किल हो गया। अब पुआल को सड़ाने के लिए मैं थोड़े से ही चूजों की खाद का उपयोग करता हूं। अन्य इलाकों में तो बत्तखों या अन्य चरनेवाले छोटे प्राणी अब भी काम के हैं।

बहुत ज्यादा उर्वरक देने से भी समस्याएं खड़ी होती हैं। एक साल, चावल रोपने के ठीक बाद, मैंने कोई सवा एकड़ का प्लॉट, जिसपर ताजा-ताजा चावल रोपा गया था, एक वर्ष के लिए किराए पर ले लिया। मैंने खेतों में से सारा पानी बाहर निकाल दिया और बिना रासायनिक उर्वरकों के काम चलता रहा। थोड़ी सी मुर्गी की खाद ही खेतों में डाल पाया। खेतों में से चार में तो फसल ठीस से बढ़ी, लेकिन पांचवें में मेरे सारे प्रयासों के बावजूद धान के पौधे, खूब घने बढ़े और उन्हें माहू की बीमारी लग गई। जब मैंने खेत के मालिक से इस बारे में पूछताछ की तो उसने बतलाया कि उसने जाड़े के दौरान उस खेत का उपयोग मुर्गी-खाद का ढेर लगाने के रूप में किया।

पुआल, हरी खाद तथा थोड़ी सी कुक्कट खाद का उपयोग करते हुए ही कोई भी काफी अच्छी पैदावार ले सकता है। इसके लिए उसे तैयार की हुई खाद या व्यापारिक उर्वरकों का सहारा नहीं लेना होगा। कई दशकों से मैं आराम से बैठकर जुताई करने और उर्वरकता बढ़ाने के प्राकृतिक तरीकों को देख रहा हूं। और उसे देखते ही सब्जियों, संतरों, चावल (जाड़े के अनाज भी) की जोरदार फसलें कहना चाहिए, धरती की कुदरती उर्वरता के बल पर ही ले रहा हूं।

खरपतवार से कैसे निपटें

खरपतवार से निपटते समय इन महत्वपूर्ण बिंदुओं को याद रखना उचित होगा।

जैसे ही भूमि की जुताई करना बंद कर दिया जाता है, खरपतवार की मात्रा बहुत घट जाएगी। साथ ही किसी खास खेत में खरपतवार की किस्में भी कम हो जाएगी।

पिछली फसल को काटने के पूर्व ही यदि नई फसल के बीज बो दिए जायेंगे तो इस फसल के बीज खरपतवार के पहले अंकुरित हो जाएंगे। जाड़े की फसल के बीज चावल कट जाने के बाद ही फूटेंगे, लेकिन तब तक जाड़े की फसल काफी उग आई होगी। गर्मी का खरपतवार जौ और राई की फसले कटने के बाद अंकुरित हो जाता है, लेकिन उस समय तक चावल की फसल काफी बढ़ चुकी होती होगी। बीजों की बोनी इस ढंग से करें कि दोनों फसलों के बीच के अंतर न रहे। इससे अनाज के बीजों को खरपतवार से पहले ही अंकुरित हो, बढ़ने का मौका मिल जाता है।

फसल कटनी के तुरंत बाद खेतों में पुआल फैला देने से खरपतवार का अंकुरण बीच में ही रुक जाता है। अनाज के साथ ही भूमि आवरण के रूप में सफेद मेथी भी बो देने से खरपतवार को नियंत्रित रखने में मदद मिलती है।

खरपतवार की समस्या से निपटने का प्रचलित तरीका मिट्टी को परिष्कृत करने का है, लेकिन जब हम ऐसा करते हैं तो मिट्टी के भीती गहरे बैठे हुए, वे बीज, जो वैसे अंकुरित नहीं हुए होते, सजग होकर अंकुरित हो उठते हैं। साथ ही तेजी से बढ़ने वाली किस्मों का इन परिस्थितियों में बढ़ने का बेहतर मौका मिल जाता है। अत: आप कह सकते हैं कि जो किसान जमीन की जुताई-गहराई करके खरपतवार को काबू में लाने का प्रयत्न करता है, वह वास्तव में अपने दुर्भाग्य से ही बीज बो रहा होता है।

'नुकसान-देह' कीट नियंत्रक

मेरे ख्याल में अब भी कुछ लोग ऐसे होंगे जो सोचते हैं कि यदि उन्होंने रसायनों का उपयोग नहीं किया तो उनके फलवृक्ष तथा फसलें, उनके देखते-देखते मुरझा जाएगी। जब कि सच्चाई यह है कि इन रसायनों का 'उपयोग करके ही' वे ऐसी परिस्थितियां निर्मित कर देंगे कि उनके निराधार, भय साकार हो जाएंगे।

हाल ही में जापान में लाल देवदार वृक्षों की छाल को घुन लगने से भारी क्षति पहुंची रही है। वन अधिकारी इन्हें काबू में लाने के लिए हेलिकाप्टरों के जरिए दवाओं का छिड़काव कर रहे हैं। मैं यह नहीं कहता कि अल्पविधि के लिए इसका सकारात्मक असर नहीं होगा। मगर मैं जानता हूं कि इस समस्या से निपटने के लिए एक और भी तरीका है।

आधुनिक शोधों के मुताबिक घुन का संक्रमण प्रत्यक्ष न होकर मध्यवर्ती गोल-कृमियों के बाद ही होता है। गोलकृमि तने में पैदा होकर, पोषक तत्वों व पानी के बहाव को रोकते हैं, और उसीसे देवदार मुरझा कर सूख जाता है। बेशक, इसका असली कारण अब तक अज्ञात है।

गोल कृमियों का पोषण वृक्ष के तने के भीतर लगी फफूंद से होता है। आखिर पेड़ के भीतर यह फफूंद इतनी ज्यादा कैसे फैल गई? क्या इस फफूंद का बढ़ना, गोल कृमियों के वहां आने के बाद शुरू हुआ? या गोल कृमि वहां इसलिए आए कि वहां फफूंद पहले से थी? यानी असली सपाल घूम-फिरकर यहीं आकर ठहरता है कि पहले क्या आया? गोल कृमि या फफूंद?

एक और भी ऐसा सूक्ष्म जीवाणु है, जिसके बारे में हम बहुत कम जानकारी रखते हैं, और जो हमेशा फफूंद के साथ ही आता है, और वह फफूंद के लिए जहर का काम भी करता है। हर कोण से प्रभावों

और गलत प्रभावों का अध्ययन करने के बाद निश्चयपूर्वक केवल एक यही बात कही जा सकती है कि देवदार के वृक्ष असाधारण संख्या में सूखते जा रहे हैं।

लोग न तो यह जान सकते हैं कि देवदार की इस बीमारी का असली कारण क्या है, और न उन्हें यह पता है कि उनके 'इलाज' के अंतिम परिणाम क्या होंगे। यदि आप बिना सोचे-समझे प्रणाली से छेड़-छाड़ करेंगे तो आप भविष्य की किसी अन्य विपदा के बीज बो रहे होंगे। नहीं, मुझे अपने इस ज्ञान से कोई खुशी नहीं होगी कि गोल कृमियों से होनेवाली तात्कालिक हानि को रासायनिक छिड़काव के जरिए कम कर दिया गया है। इस तरह की समस्याओं को, कृषि रसायनों का उपयोग करते हुए हल करने का यह तरीका बहुत ही अनगढ़ हैं इससे भविष्य में समस्याएं और भी विकट रूप ले लेंगी।

प्राकृतिक कृषि के ये चार सिद्धांत (हल नहीं, जुताई-निंदाई नहीं, कोई रासायनिक उर्वरक या तैयार की हुई खाद नहीं, हल द्वारा या शाकनाशियों द्वारा कोई निंदाई, गुड़ाई नहीं तथा रसायनों पर कोई निर्भरता नहीं।) प्रकृति के आदेशों का पालन करते हैं। तथा प्रकृति के संपदाओं को पूरा करने की राह बतलाते हैं। मेरी सारी अटकलें इसी एक विचारधारा के साथ चलती हैं। अनाज, सब्जियों और नारंगियां उगाने की मेरी विधि का सार यही है।

9

खरपतवारों के बीच खेती

इन खेतों में अनाज और मेथी के साथ कई विभिन्न प्रकार के खरपतवार भी उग रहे हैं। खेतों में जो धान का पुआल पिछली पतझड़ के मौसम में बिछाया गया था, वह सड़कर अब बढ़िया खाद मिट्टी में बदल गया है। पैदावार प्रति चौथाई एकड़ कोई 22 बुशेल होगी।

चरागाहों की घास के अग्रणी विशेषज्ञ प्रोफेसर कावासे तथा प्राचीन पौधों पर शोध कर रहे प्रोफेसर हीरो ने कल जब मेरे खेतों में जौ और हरे खाद की महीन चादर बिछी देखी तो उसे उन्होंने कलाकारी का एक खूबसूरत नमूना कहा। एक स्थानीय किसान, जिसने मेरे खेतों में खूब सारी खरपतवार देखने की उम्मीद की थी, उसे यह देखकर घोर आश्चर्य हुआ कि कई अन्य तरह के पौधों के बीच जौ (बार्ली) खूब तेजी के साथ बढ़ रही थी। तकनीकी विशेषज्ञ भी यहां आए हैं और उन्होंने भी खरपतवार देखी, चारों ओर उगती मेथी और जलकुंभी देखे और अचरज से अपने सिर हिलाते हुए यहां से चल दिए।

बीस साल पहले जब मैं अपने फल-बागों में स्थाई भूमि आवरण उगाने में लगा था, तब देश के किसी भी खेत या फल-बाग में घास का एक तिनका भी नजर नहीं आता था। मेरे जैसे बागानों को देखने के बाद ही लोगों की समझ में आया कि फलों के पेड़, घास और खरपतवार के बीच भी बढ़ सकते हैं। आज, नीचे घास उगे हुए फलबाग आपको जापान में हर कहीं नजर आ जाएंगे तथा बिना घास-आवरण के बागान अब दुर्लभ हो गए हैं।

यही बात अनाज के खेतों पर भी लागू होती है। चावल, जौ तथा राई को, सारे साल भर, मेथी और खरपतवार से ढंके खेतों में भी मजे से उगाया जा सकता है।

इन खेतों में बोनी और कटनी की कार्यक्रम सूची की मैं जरा विस्तार से समीक्षा करना चाहूंगा। अक्टूबर के प्रारम्भ में, कटनी से पहले सफेद मेथी और तेजी से बढ़ने वाली जाड़े की फसल के बीज धान की पक रही फसल के बीच ही बिखेर दिए जाते हैं।

जौ या राई और मेथी के पौधे एक-दो इंच ऊपर तक आ जाने तक चावल भी पक कर कटने योग्य हो जाता है। चावल की फसल काटते समय मेथी और जौ के अंकुर किसानों के पैरों तले कुचले जाते हैं, लेकिन उन्हें फिर से पनपने में ज्यादा समय नहीं लगता। धान की गहाई पूरी हो जाने के बाद उसकी कुट्टी और पुआल को खेत पर फैला दिया जाता है।

यदि चावल शरद ऋतु में बोया गया हो और बीजों को ढंका न गया हो तो बीजों को अक्सर चूहे या परिंदे खा जाते हैं, या वे जमीन में ही सड़ जाते हैं। इससे बचने के लिए में चावल के बीजों को बोने से पहले मिट्टी की गोलियों में लपेट देता हूं। बीजों को एक टोकरी या चपटे बरतन में गोल-गोल और आगे-पीछे हिलाया जाता है। इसके बाद उन पर महीन मिट्टी छिड़क दी जाती है, और बीच-बीच में उन पर पानी का 'हल्का' सा छिड़काव भी किया जाता है। इस के करीब आधा इंच व्यास की गोलियां बन जाती हैं।

गोलियां बनाने का एक और तरीका भी है। पहले बिना छिले चावल (धान) को कुछ घंटों तक पानी में डुबो दिया जाता है। फिर धान का छिलका उतार कर चावल को गीली मिट्टी में हाथों या पैरों से गूंध लिया जाता है। इसके बाद तार की जाली में से इस मिट्टी के लौंदों को दबाकर छोटे-छोटे ढेलों को एक-दो दिनों तक थोड़ा सूखने दिया जाता है ताकि हथेलियों से उनकी गोलियां बनाई जा सकें। सबसे अच्छा तो यह होगा कि हर गोली में एक ही बीज हो। एक दिन में इतनी गोलियां बन जाएंगी, जिनसे कई एकड़ में बुआई की जा सके।

परिस्थितियों के मुताबिक कभी-कभी मैं इन गोलियों को बोने के पहले उनमें अन्य अनाजों या सब्जियों के बीज भी रख देता हूं।

मध्य नवम्बर से मध्य दिसंबर के बीच की अवधि में मैं चावल की बीजों वाली इन गोलियों को जौ या राई की नई फसल के बीच बिखेर देता हूं। ये बीज वसंत ऋतु में भी बोए जा सकते हैं।

फसल को सड़ाने के लिए खेत पर कुक्कट खाद की एक पतली परत भी फैला दी जाती है। इस तरह पूरे साल की बोनी पूरी होती है।

मई में जाड़े के अनाज की फसल काट ली जाती है। उसकी गहाई के बाद उसका पुआल भी खेत में बिखेर दिया जाता है।

इसके बाद खेत में एक हफ्ते या दस दिन तक पानी बना रहने दिया जाता है। इससे मेथी और खरपतवार कमजोर पड़ जाती है, और चावल को पुआल में से फूट कर बाहर आने का मौका मिल जाता है। जून और जुलाई में बारिश का पानी ही पौधों के लिए पर्याप्त होता है। अगस्त महीने में खेतों में से ताजा पानी सिर्फ बहाया जाता है, उसे वहां रुकने नहीं दिया जाता है। ऐसा हफ्ते में एक बार किया जाता है। इस समय तक शरत-ऋतु की कटनी की घड़ी भी आ जाती है।

प्राकृतिक विधि से चावल और जाड़े के अनाज की खेती का वार्षिक चक्र ऐसे चलता है। बोनी और कटनी का यह पैटर्न इतने करीब से प्राकृतिक क्रम की नकल करता है कि उसे कोई कृषि तकनीक कहने की बजाए प्राकृतिक कहना ही उचित होगा।

चौथाई एकड़ के खेत में बीज बोने या पुआल फैलाने में किसान को एक या दो घंटे से ज्यादा का समय नहीं लगता। कटनी के काम को छोड़कर, जाड़े की फसल को अकेला किसान भी मजे से उगा सकता है। एक खेत में चावल की खेती का जरूरी काम भी दो या तीन लोग ही परम्परागत जापानी औजारों की मदद से निपटा लेते हैं। अनाज उगाने की इससे सरल विधि शायद और कोई नहीं हो सकती है। इस विधि में बीज बोने तथा पुआल फैलाने के अलावा खास कुछ भी नहीं करना पड़ता, लेकिन इस सीधी-सादी विधि तक पहुंचने में मुझे तीस बरस का समय लगा।

खेती का यह तरीका जापान की प्राकृतिक स्थितियों के अनुसार विकसित हुआ है, लेकिन मैं सोचता हूं कि प्राकृतिक खेती को अन्य क्षेत्रों में अन्य देसी फसलें उगाने के लिए भी अपनाया जा सकता है। मसलन जिन इलाकों में पानी इतनी आसानी से उपलब्ध नहीं होता, वहां पहाड़ी चावल, ज्वार, बाजरा या कुटकी को उगाया जा सकता है। वहां सफेद मेथी की जगह मेथी की अन्य किस्म अल्फा-अल्फा, मोठ या दलहन खेतों को ढंकने के लिए ज्यादा अच्छे उपयोगी साबित हो सकते हैं। प्राकृतिक कृषि उस इलाके की विशिष्ट परिस्थितियों के मुताबिक अपना अलग रूप धारण कर लेती है, जहां उसका उपयोग किया जा रहा हो।

इस प्रकार की खेती की शुरुआत करने से पूर्व कुछ थोड़ी निंदाई, छंटाई या खाद बनाने की जरूरत पड़ सकती है, लेकिन बाद में हर साल इसमें क्रमशः कमी लाई जा सकती है। आखिर में जाकर सबसे महत्वपूर्ण चीज कृषि तकनीक के बजाए किसान की मनस्थिति ही ठहरती हैं।

10

पुआल आधारित खेती

खेतों में पुआल फैलाना कुछ लोगों को उतना महत्वपूर्ण नहीं लग सकता, लेकि मेरे तरीके से चावल और जाड़े के अनाज की खेती का वह बुनियादी तत्व है। उसका संबंध हर चीज-उर्वरता, अंकुरण, खरपतवार, परिंदों से बचाव तथा जल-प्रबंधन के साथ है। व्यावहारिक प्रयोगों तथा सिद्धांततः भी खेतों में पुआल का उपयोग बहुत ही निर्णायक मुद्दा है। यह ऐसी चीज भी है जिसे लगता है, मैं लोगों को समझा नहीं पा रहा हूं।

पुआल बिना काटे फैलाएं

ओकायामा - परीक्षण केंद्र पर उसके अस्सी प्रतिशत परीक्षण खेतों में सीधे चावल बोकर फसल लेने की विधि आजमाई जा रही है। जब मैंने उन्हें पुआल को बिना काटे फैला देने का सुझाव दिया तो, स्पष्टतः उन्हें लगा कि यह ठीक नहीं हो सकता, और उन्होंने उसे यांत्रिक थ्रेशर से काट कर फिर खेतों में फैलाने का प्रयोग किया। जब कुछ वर्ष पूर्व मैं उनके यहां इस प्रयोग को देखने गया तो वहां मैंने खेतों

को तीन हिस्सों में विभाजित किया हुआ देखा – बिना पुआल बिछे खेत, पुआल बिछे खेत तथा बिना कटा पुआल बिछे खेत। मैंने भी यही तरीका बरसों तक अपनाया था और चूंकि बिना कटा पुआल सबसे अच्छा ठहरा, इसलिए अब मैं उसे ही खेतों में फैलाता हूं।

शीमाने प्रांत के यासूकी कृषि हाईस्कूल के अध्यापक श्री फुजीआई की इच्छा सीधे बुआई करने की हुई, और वे मेरे फार्म पर पधारे। मैने उन्हें सुझाव दिया कि वे खेतों में बिना कटा पुआल फैलाएं। अगले साल वापस लौटकर उन्होंने मुझे बतलाया कि वह परीक्षण असफल रहा। उनके ब्यौरे को ध्यान से सुनने के बाद मुझे पता चला कि उन्होंने पुआल खेतों में सीधे, बड़े करीने के साथ, कुछ इस ढंग से बिछाया, जैसा जापानी अपने पिछवाड़े के आंगन में घास-पलवार सजाते हैं। यदि आप ऐसा करेंगे तो बीज कभी अच्छी तरह से अंकुरित नहीं होंगे। जौ और राई के पलवार के मामले में भी, यदि उसे बहुत ही करीने से बिछाया गया तो चावल के अंकुरों को बाहर निकलने में बड़ी कठिनाई होगी। सबसे अच्छा तरीका तो यह है कि पुआल को इधर-उधर बस यों ही उछाल दिया जाना चाहिए, जैसे कि वे ठूंठ अपने आप वहां आकर गिरे हो।

जिस तरह धान का पुआल जाड़े के अनाज के लिए सबसे अच्छा पलवार होता है, वैसे ही जाड़े की फसल का पुआल चावल के लिए बढ़िया होता है। मैं चाहता हूं कि लोग इस बात को अच्छी तरह समझ लें। यदि खेतों में ताजा पुआल बिछाया गया हो तो चावल की ऐसी कई बीमारियां हैं, जो फसल को लग जाएंगी। चावल की ये बीमारियां, मगर जाड़े के अनाज की फसल को संक्रमित नहीं करेंगी और यदि चावल का पुआल पतझड़ के मौसम में फैलाया गया तो अगले वसंत में जब चावल अंकुरित होगा तब तक वह पूरी तरह सड़ चुका होगा। ताजा चावल का पुआल अन्य अनाजों के लिए अच्छा होता है। ऐसा ही कुटकी का पुआल भी होता है। इस तरह चावल और कुटकी के लिए अन्य अनाजों के पुआल का उपयोग किया जा सकता है। मोटे तौर पर जाड़े के गेहूं, राई, जौ जैसे अनाजों के लिए जाड़े की फसलों के ताजा पुआल का उपयोग, जाड़े की ही अन्य फसलों के लिए नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि इससे उन्हें बीमारियां लग सकती हैं।

पिछली फसल का पुआल तथा गहाई के बाद बाकी रही कुट्टी को भी खेतों में वापस बिछाया जाना चाहिए।

पुआल धरती को उर्वर बनाता है

पुआल फैलाने से मिट्टी की गठन सुधरती है और धरती की जो उर्वरता बढ़ती है उससे तैयार किए गए उर्वरकों की जरूरत नहीं रह जाती। मगर, बेशक इसका उपयोग बिना-जुताई वाली खेती में ही फलदायी होगा। केवल मेरे खेत ही सारे जापान में ऐसे हैं, जिनमें बीस साल से भी ज्यादा समय से हल-बखर नहीं चलाया गया है, और हर मौसम के साथ उनकी गुणवत्ता में सुधार आया है। मेरा अनुमान है कि इन बीस बरसों में धरती की ऊपरी सतह, कोई चार इंच की गहराई तक, खाद-मिट्टी से समृद्ध हो गई है। इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि इन खेतों में जो कुछ उगा वह अनाज को छोड़कर, सब-का-सब, खेतों को ही लौटा दिया गया।

खाद बनाने की कोई जरूरत नहीं

खाद बनाने की कोई जरूरत नहीं होती। मैं यह नहीं कहता हूं कि खाद की जरूरत नहीं है। मेरा कहना है कि उसे तैयार करने के लिए खूब मेहनत करना जरूरी नहीं है। यदि पुआल या ठूंठों को वसंत या पतझड़ के मौसम में खेत की सतह पर ही पड़ा रहने दिया जाए और उस पर कुक्कट खाद या बत्तखों की बीट की एक पतली परत बिछा दी जाए तो वह छह महीनों मे सड़कर खुद-ब-खुद खाद बन जाता है।

परम्परागत ढंग से खाद बनाने के लिए किसान, कड़ी धूप में चारा-पुआल काटता है, उसमें पानी और चूना मिलाता है, उसका ढेर लगाता है और फिर उसे उठा कर खेतों तक ले जाता है। यह सारी जहमत वह यह सोचकर उठाता हैं कि यही तरीका 'बेहतर' है। इसके बदले मैं चाहूंगा कि लोग सिर्फ पुआल, कुट्टी या लकड़ी की छिलपियां खतों में फैला दें।

पश्चिम जापान में तोकाइदो रेलमार्ग के किनारे-किनारे यात्रा करते हुए मैंने देखा है कि अब पुआल को, मेरे कहने के बाद से, कि पुआल को मेरे कहने के बाद से, कि पुआल को बिना काटे फैला देना चाहिए, ज्यादा मोटा काटा जाने लगा है। इसका श्रेया मैं किसानों को देना चाहूंगा, लेकिन आजकल के विशेषज्ञ अब भी यही कहते जा रहे हैं कि प्रति चौथाई एकड़ इतने सौ क्विंटल पुआल बिछाना चाहिए? रेल की खिड़की में से आपको नजर आता है कि किसानों ने लगभग आधा पुआल को काटकर खेतों में बिखेर दिया है, और बाकी को एक तरफ रख कर वर्षा में सड़ने के लिए छोड़ दिया गया है।

यदि जापान के सारे किसान मिलकर सारा पुआल वापस खेतों में डालना शुरू कर दें तो उसका नतीजा यह होगा कि धरती को खाद की भारी मात्रा वापस मिलने लगेगी।

अंकुरण

सैकड़ों सालों से किसान लोग चावल के अच्छे, स्वस्थ और मजबूत पौधे उगाने के लिए बीज-क्यारियां तैयार करने के लिए बड़ी मेहनत कर रहे हैं। छोटी-छोटी क्यारियों की सफाई वे अपने घरों की पूजा वेदियों की तरह करते हैं। धरती को जोतकर, रेत तथा चावल के डंठलों की राख चारों ओर फैलायी जाती है, और इसके बाद ईश्वर से प्रार्थनाएं की जाती हैं कि अंकुर खूब बढ़िया पनपे।

इस हालत में यह कोई ताज्जुब की बात नहीं कि जब मुझे मेरे आसपास के किसानों ने जाड़े की फसल तथा सड़ते पुआल व खरपतवार के बीच की चावल के बीज बिखेरते देखा तो उन्हें लगा कि मेरा दिमाग चल गया है।

बेशक, अच्छे जुते हुए खेत में सीधे बीज बोने से वे अच्छे अंकुरित होते हैं, मगर यदि बारिश हो जाती है और खेतों में कीचड़ हो जाए तो उसमें आप चल-फिर नहीं सकते, और आपको बुआई स्थगित करनी पड़ती है। इस मामले में बिना-जुताई वाली खेती अधिक सुरक्षित होती है, लेकिन दूसरी तरफ इसमें दीमक, झींगुर तथा चूहों जैसे छोटे प्राणियों से परेशानी होती है। क्योंकि ये बीजों को खा जाते हैं। इस समस्या को बीजों को मिट्टी की गोलियां में रखकर फिर बोने से हल किया जाता है।

जाड़े के अनाज को बोने का प्रचलित तरीका यह है कि पहले बीज बो कर पिर उन्हें मिट्टी से ढंक दिया जाता है। यदि बीज गहरे चले गए तो सड़ जाते हैं। पहले मैं बीजों को जमीन पर बने छोटे-छोटे छिद्रों में डालता था या फिर हलों की लीक में और उन्हें मिट्टी से ढंकता नहीं था, लेकिन इन दोनों तरीकों में ही मुझे कई तरह की असफलताएं ही हाथ लगीं। इधर कुछ समय से मैं कुछ सुस्त हो गया हूं। अब मैं खेत में लीके बनाने या छेद खोदने की बजाए, बीजों को मिट्टी की गोलियों में बंद कर सीधे खेत में बिखेर देता हूं। सतह पर अंकुरण ज्यादा अच्छा होता है। क्योंकि वहां बीजों को आक्सीजन मिलती है। मैंने पाया कि जहां इन गोलियों को पुआल से ढंका गया, बीजों का अंकुरण अच्छा हुआ और वे ज्यादा बारिश होने पर भी सड़े नहीं।

पुआल, अंकुरों को खरपतवार और चिड़ियों से बचाता है

आदर्श परिस्थितियों में एक चौथाई एकड़ के खेत से जौ का कोई 400 किलो पुआल प्राप्त होगा। यदि यह सारा का सारा वापस खेत में डाल दिया जाए तो पूरा खेत उससे ढंक जाएगा। इससे सबसे खतरनाक खरपतवार 'क्रैब घास' जो 'सीधी बुआई -बिना जुताई वाली खेती में सबसे कठिन समस्या है, को भी नियंत्रित किया जा सकता है।

चिड़िए भी मेरे लिए काफा बड़ा सिरदर्द साबित हुई हैं। सीधे बीज बोने की विधि तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि पक्षियों से उन्हें बचाने का कोई कारगर तरीका नहीं ढूंढ लिया जाए। कई इलाकों में इसके धीमें प्रसार का यही कारण रहा है। आप में से कईयों के सामने चिड़ियों की यही समस्या रही है। इसलिए आप समझ जाएंगे कि मैं क्या कहना चाहता हूं।

मुझे याद है कि कई बार तो ऐसा भी हुआ है कि ये पक्षी मेरे पीछे-पीछे उड़ते रहे, और खेत के दूसरी तरफ मैं बुआई का काम निपटाऊं, इसके पहले ही वे सारे बीजों को चुग गए। मैंने उन्हें दूर रखने के लिए लकड़ी के कंकाल बनाए, कनस्तरों का शोर मचाया, जाल डाले, लेकिन कोई तरकीब काम नहीं आई। कभी इनमें से कोई तरकीब थोड़ी बहुत काम आयी भी तो एक-आध साल के लिए ही।

मैंने अपने अनुभवों से यह साबित कर दिया कि पिछली फसल खड़ी रहते हुए बीज बो दिए जाएं ताकि वे घास और मेथी में छुपे रहें और पकी फसल को काटते ही उन्हें चावल, जौ या राई के पुआल से ढंक दिया जाए तो चिड़ियों की समस्या से काफी प्रभावी ढंग से निपटा जा सकता है।

बीते बरसों में मैंने कई गलतियां कीं तथा प्रयोगों के दौरान सभी प्रकार की असफलताओं का स्वाद भी चखा। कृषि फसलें उगाते हुए अचानक क्या अनसोचा घट सकता है, इसे मुझसे ज्यादा जानने वाला किसान जापान में शायद ही कोई दूसरा होगा। जब मैं बिना जुताई की विधि से पहली बार चावल तथा जाड़े की फसल उगाने में सफल हुआ तो मुझे वैसी ही खुशी हुई जैसी अमेरिका खोज लेने पर कोलंबस को हुई होगी।

सूखे खेत में चावल की खेती

अगस्त महीने के शुरू होते-होते मेरे पड़ोसी किसान के खेत में चावल (धान) के पौधे कमर तक ऊंचे हो जाते थे। पर मेरे खेत में उनकी इस ऊंचाई इससे आधी ही होती थी। जो मुलाकाती जुलाई के

महीने में यहां आते हैं वे शंका की दृष्टि से पूछते हैं, 'फुकूओका साब, क्या यह चावल ठीक से पनप पाएगा?' 'जरूर,' मैं जवाब देता हूं, 'चिंता की कोई बात नहीं है।'

मैं लंबे-तगड़े, तेजी से बढ़ने और बड़ी-बड़ी पत्तियों वाल पौधे उगाने की कोशिश नहीं करता। उसके बदले में यथासंभव पौधों को ठोस बनाए रखना चाहता हूं। पौधे के शिखर को छोटा रखो, पौधों को खुराक बहुत मत दो, और पौधों के स्वाभाविक रूप से असली धान के पौधे जैसा ही बढ़ने दो।

आमतौर से तीन-चार फीट के पौधे में ढेर सी पत्तियां हाने से यह प्रभाव पैदा होता है कि उसमें दाने भी खूब बैठेंगे, जब कि असलियत यह होती है कि केवल पत्तीदार डंठल ही हष्ट-पुष्ट हो रहे होते हैं। इससे चोकर खूब निकलता है और पौधे की शक्ति वानस्पतिक बढ़त में ही इतनी खर्च हो जाती है कि अनाज के दानों के लिए बाकी कुछ नहीं बचता। मसलन, यदि आकार में बड़े पौधे से 1,000 किलो पुआल पैदा होता है तो चावल की पैदावार 500-600 किलो ही होगी। चावल के छोटे पौधों से मेरे खेतों में उग रहे 1,000 किलो पुआल के साथ 1,000 किलो ही चावल निकलेगा। यदि फसल अच्छी रही तो मेरे पौधों से चावल की पैदावार 1,200 किलो तक होगी जो कि पुआल से वजन में 20 प्रतिशत ज्यादा होगी।

सूखे खेत में उगाए जाने वाले चावल के पौधे बहुत ज्यादा ऊंचाइ नहीं पाते। इससे सूरज की रोशनी पूरे पौधे पर पड़ते हुए पौधों की जड़ तक तथा निचली पत्तियों तक पहुंचती है। एक वर्ग इंच पत्तियां छह दाने पैदा करने के लिए काफी होती हैं। पौधे के शिखर पर तीन-चार पत्तियां ही सौ-दाने करने के लिए काफी होती हैं। मैं बीज जरा सघन बोता हूं, जिससे प्रति वर्ग गज मं 20-25 पौधे उगते हैं और जिनसे 250 से 300 दाने निकल आते हैं। यदि आप कम क्षेत्र में ज्यादा पौधे रखें तथा उन्हें खूब ऊंचा न उगने दें तो बगैर कोई कठिनाई के अच्छी फसल ले सकते हैं। यही बात गेहूं, जौ, राई, कुटकी, ओट, बाजरा तथा अन्या अनाजों पर भी लागू होती है।

बेशक, आम तरीका तो यही है कि फसल की बढ़त के समय पूरे मौसम धान के खेतों में कई इंच पानी भरा रखा जाए। किसानों को पानी में चावल उगाते इतनी सदियां बीत गई हैं कि अब लोग यह मानने को ही तैयार नहीं होते कि इसका कोई और भी तरीका हो सकता है। चावल के पौधे सबसे अच्छे तभी बढ़ते हैं, जब मिट्टी में पानी की मात्रा, उनकी जल-ग्रहण क्षमता की 60 से 80 प्रतिशत ही हो। खेत को पानी से भरे न रखने से पौधों की जड़ें मजबूत होती है। तभी बीमारियों और कीड़ों के विरुद्ध उनकी प्रतिरोध क्षमता भी ज्यादा होती है। पानी भरे खेतों में चावल उगाने का मुख्य कारण खरपतवारों को एक ऐसा वातावरण निर्मित कर नियंत्रित करना होता है, जिसमें कुछ सीमित किस्म के खरपतवार ही जिंदा रह सकते हैं। जो जिंदा रह जाते हैं उन्हें हाथ से या निंदाई-औजार से उखाड़ कर फेंकना पड़ता है। परम्परागत विधि के तहत यह कमरतोड़ तथा वक्त लेने वाली क्रिया एक ही मौसम में कई बार दोहरानी पड़ती है।

मानसून के दौरान, जून के महीने में मैं, लगभग एक सप्ताह के लिए खेतों में पानी रोकता हूं। सूखे खेत ही बहुत ही कम खरपतवारें बिना आक्सीजन के इतने कम समय भी जिंदा नहीं रह पाती, और मेथी भी पीली पड़कर मुरझा जाती है। हमारा इरादा मेथी को मारने का नहीं होता। हमारा उद्देश्य तो उसे थोड़ा

कमजोर करने का होता है ताकि चावल के अंकुर ठीक से स्थापित हो जाएं। जैसे ही पानी निकाल दिया जाता है (यथा संभव जल्द-से-जल्द) मेथी में फिर से जान आ जाती है और वह चावल के पौधों के नीचे पूरे खेत की सतह को ढंक देती है। इसके बाद मैं जल प्रबंधन के नाम पर शायद ही और कुछ करता हूं। मौसम के शुरू में मैं सिंचाई बिल्कुल नहीं करता। उन सालों के दौरान भी, जब वर्षा कम होती है, पुआल और हरे-खाद के नीचे मिट्टी में नमी बनी रहती है। अगस्त के महीने में मैं थोड़ा-थोड़ा करके पानी छोड़ता हूं। लेकिन उसे कभी भी खेत में ठहरने नहीं देता।

यदि आज मेरे खेत में उगा धान का पौधा किसी किसान को दिखलाएंगे तो वह तत्काल जान जाएगा कि वह वैसी ही है जैसे कि धान के पौधे को होना चाहिए और उसका आकार-प्रकार भी बिल्कुल आदर्श है। वह यह भी समझ जाएगा कि बीज सीधे-सीधे स्वाभाविक ढंग से उगाए गए हैं, रोपे नहीं गए हैं। ये पौधे ढेर से पानी में नहीं उगे तथा इनमें रासायनिक उर्वरकों का भी उपयोग नहीं किया गया। ये सब बातें पौधे को उसकी जड़ों के आकार और मुख्य तनें में गांठों के अंतर को देख कोई भी किसान सहज ही बतला सकता है, यदि आप पौधे के आदर्श आकार-प्रकार को समझ लेते हैं तो सारी बात इतनी ही रह जाती है कि आपके अपने खेत की विशिष्ठ परिस्थितियों में इस आकार के पौधे को कैसे उगाया जाए।

मैं प्रोफेसर मोत्सुशिमा के इस विचार से सहमत नहीं हो सकता था कि पौधा सबसे अच्छा वही होगा जिसकी फुनगी से चौथे क्रम की पत्ती सबसे ज्यादा लंबी होगी। कई बार फुनगी से दूसरी या तीसरी पत्ती से सबसे लंबे होने पर भी सब से अच्छे नतीजे मिलते हैं। यदि पौधे के छोटे रहते ही उसकी बढ़त को रोक लिया जाए तो सबसे ऊपर या दूसरे क्रम की पत्ती अक्सर सब से बड़ी हो जाती है। ऐसा होने पर भी काफी ज्यादा पैदावार ली जा सकती है।

प्रोफेसर मोत्सुशिमा का सिद्धांत उन प्रयोगों से उपजा है जिनके अंतर्गत पौधशालाओं में उर्वरकों की मदद से चावल के नाजुक पौधे उगाकर फिर उन्हें खेतों में रोपा जाता है, लेकिन मेरा चावल तो धान के पौधे के प्राकृतिक जीवन-चक्र का पालन करते हुए, जैसे वह जंगल में उग रहा हो, उगाया गया है। मैं बड़े धीरज के साथ पौधे के अपनी ही जगह पर बढ़ने और पकने होने का इंतजार करता हूं।

हाल ही के बरसों में मैं दक्षिण के लसवार चावल की किस्म उगाने की कोशिश कर रहा हूं। इसके प्रत्येक बीज को पतझड़ में बोने पर औसतन ऐसे बारह डंठल निकलते हैं जिनमें प्रति फुनगी 250 तक दाने बैठते हैं। इस किस्म के जरिए, मुझे विश्वास है कि मैं इतनी बढ़िया फसल ले सकूंगा जो कि सैद्धांतिक रूप से किसी भी खेत में सौर-ऊर्जा के द्वारा उगाई गई अधिकतम फसल के लगभग बराबर होगी। इस किस्म के द्वारा मैं अभी ही प्रति चौथाई एकड़ साढ़े सत्ताइस बुशेल (लगभग 800 किलो) फसल ले रहा हूं।

किसी तकनीशियन की शंकालु नजर से देखो तो चावल उगाने की मेरी विधि अल्पविधि या अस्थाई रूप से प्रभावी लग सकती है। वह कह सकता है, 'यदि इस प्रयोग को ज्यादा समय तक जारी रखा गया तो किसी-न-किसी प्रकार की कोई समस्या निश्चय ही खड़ी होगी।' लेकिन इस ढंग से मैं बीस बरस से चावल उगा रहा हूं। पैदावार हर साल बढ़ रही है, और मिट्टी भी हर बीतते बरस के साथ और भी

ज्यादा समृद्ध होती जा रही है।

12

फल बागों के पेड़

अपने घर के करीब की पहाड़ी ढलानों पर मैं नारंगी-परिवार के कई फल भी उगाता हूं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब मैंने खेती शुरू की तो मैंने शुरुआत पौने दो एकड़ के फल-उद्यान तथा 3/8 एकड़ के चावल की खेती से की थी। लेकिन अब फलोद्यान का क्षेत्रफल बढ़कर साढ़े बारह एकड़ हो गया है। मैंने यह भूमि आसपास की पहाड़ियों की त्यागी हुई जमीन से प्राप्त की और उसे अपने हाथ से साफ किया।

इन ढलानों पर देवदार के पेड़ तो कई बरस पहले ही काट डाले गए थे। मैंने सिर्फ इतना ही किया कि भू-रेखा के मुताबिक गड्ढे करके उनमें नारंगी के पौधे रोप दिए। कटे हुए ठूंठों में कल्ले तो पहले ही निकल आए थे। कुछ समय बाद जापान की पंपाज तथा कोगन घास व ब्रेकन वहां खूब फलने-फूलने लगीं। इस झाड़-झंखाड़ में नारंगी के नन्हें पौधे गुम हो गए।

देवदार के अधिकांश कल्लों को तो मैंने काट डाला, लेकिन कुछ को हवा को आड़ देने के हिसाब से बढ़ने दिया। पेड़ों के पीछे गड्ढे खोदकर मैंने सीढ़ियां बना लीं और अब मेरा उद्यान अन्य बगीचों जैसा ही लगने लगा।

बेशक, मैंने प्राकृतिक खेती में जुताई न करने, रासायनिक उर्वरक न प्रयोग करने तथा कीटनाशक या शाकनाशकों का इस्तेमाल करने के अपने सिद्धांतों को बनाए रखा। एक दिलचस्प बात यह थी कि, जहां संतरे के पौधे जंगली झाड़ों के कल्लों के नीचे उग रहे थे वहां तीरनुमा शक्ल जैसे आम नुकसान देह कीड़े कहीं नहीं दिखलाई पड़े। एक बार झाड़ियों के अंकुरित हो जाने के बाद वृक्षों को काट डाला गया, और तभी इन कीड़ों का आगमन वहां हुआ।

किसी भी फलदार वृक्ष को शुरू से ही उसके प्राकृतिक आकार के अनुसार बढ़ने देना ही सबसे अच्छा होता है। इससे उसमें हर साल फल लगेंगे और उसे तराशने की जरूरत भी नहीं पड़ेगी। नारंगी के पेड़ों का विकास वैसा ही होता है जैसे चीड़ या देवदार के पेड़ों का होता है। यानी बीच का तना सीधा बढ़ता है और और शाखाएं बारी-बारी से फैलती हैं। बेशक, नारंगी की सारी किस्में एक-जैसे आकार-प्रकार की नहीं होंगी। हासाकू और शेडॉक किस्में बहुत ऊंची जाती हैं। जाड़े में फलने वाले मेंडेरिन संतरों के पेड़ ठिगने तथा मोटे होते हैं तथा सात्सुमा मेंडेरिन संतरों की जल्दी पकने वाली किस्में पूरी तरह बढ़ने के बाद भी छोटी ही रहती हैं। मगर हर एक का एक ही केंद्रीय तना होता है।

कुदरती पर-भक्षियों को न मारें

मेरे खयाल से यह सब जानते हैं कि, चूंकि बागानों में लगने वाले सबसे आम कीट रूबी स्केल (लाल शल्क) तथा सींगवाली वॅक्स स्केल के कुदरती शत्रु भी होते हैं। उन्हें काबू में रखने के लिए कीटनाशकों का प्रयोग करने की काई जरूरत नहीं है। किसी जमाने में जापान में 'फ्यूसोल' नामक

कीटनाशक का उपयोग किया जाता था। उसका नतीजा यह हुआ कि प्राकृतिक परभक्षी जड़ से खत्म हो गए और उसे पैदा होने वाली समस्याएं कई जिलों में अभी भी मौजूद हैं। इस अनुभव से, मेरे विचार में अधिकांश किसान यह समझ गए हैं कि परभक्षियों को नष्ट कर देना अच्छा नहीं होता। क्योंकि आगे चलकर इससे कीड़ो द्वारा नुकसान और ज्यादा बढ़ जाता है।

जहां तक शल्क का दीमक जैसे कीटों का सवाल है, उनका इलाज भी मशीन के तेल का घोल 200 से 400 गुना पानी में बनाकर गर्मियों में छिड़कने से हो जाता है। इसके बाद कीट बिरादरियों को अपने आप प्राकृतिक संतुलन बनाए रखने के लिए छोड़ दिया जाता है, और समस्या स्वयं ही हल हो जाती है। यह तरीका उस हालत में कारगर नहीं होता जबकि जून या जुलाई के महीनों में जैव-फासफोरस आधारित कीटनाशक छिड़का जाता है। क्योंकि इस रसायन से परभक्षी कीट भी नष्ट हो चुके होते हैं।

याद रहे कि मैं यह नहीं कह रहा हूं कि मैं नमक और लहसुन के घोल या मशीन के तेल जैसे कथित 'हानिरहित' जैव छिड़कावों की हिमायत कर रहा हूं या मैं नुकसानदेह कीड़ों को मारने के लिए विदेशी परभक्षी कीटों को खेतों में छोड़ने के पक्ष में हूं। इससे वृक्ष कमजोर पड़ जाते हैं तथा उनपर कीटों का हमला इतना ज्यादा होने लगता है कि वे अपना स्वाभाविक आकार-प्रकार खो देते हैं। यदि वृक्षों की बढ़त अप्राकृतिक ढंग से हो रही है, और उन्हें इसी हालत में छोड़ दिया जाता है तो उनकी शाखाएं आपस में उलझ जाती हैं, और नतीजा कीट-हानि के रूप में सामने आता है। मैं आपसे बतला ही चुका हूं, कि इसी ढंग से मैंने शुरू में कई एकड़ क्षेत्र के नारंगी के पेड़ों का सफाया कर डाला था।

लेकिन यदि पेड़ों को धीरे-धीरे दुरुस्त कर दिया जाता है, तो वह कम-से-कम लगभग अपने प्राकृतिक रूप में लौट आएंगे। धीरे-धीरे उनमें मजबूती आ जाती है, और कीड़ों को नियंत्रित करने के उपाय गैर-जरूरी हो जाते हैं। यदि पेड़ को सावधानी से रोपा जाए और शुरू से ही उसे उसके कुदरती रूप में बढ़ने दिया जाए तो उसकी कटाई-छंटाई करने या कोई दवाईयां छिड़कने की जरूरत ही नहीं रह जाएगी। शुरू से ही वृक्षों की छंटाई तभी जरूरी होती है जब कि, पौधशालाओं से उखाड़ कर बागानों में रोपते समय छोटे पौधों की जड़े क्षतिग्रस्त हो जाती हैं तथा उनकी कटाई-छंटाई शुरू से ही कर दी जाती है।

बागान की मिट्टी को सुधारने के लिए मैंने वहां कई किस्मों के वृक्ष उगाने का प्रयोग किया। इनमें मोटिशिया, अकेसिया तथा बबूल भी थे। यह पेड़ पूरे वर्ष भर उगते रहते हैं, और सभी मौसमों में उनमें कलियां आती रहती हैं। इन कलियों का भक्षण करनेवाले माहू (एफिड्स) भी, इसीलिए भारी संख्या में बढ़ने लगते हैं। इन माहुओं को चूंकि 'लेडी-बग' कीड़े खाते हैं, उनकी आबादी भी बढ़ने लगती है। लेडी-बग सारे माहुओं को चट करने के बाद नीचे उतर कर नारंगी के पेड़ों पा पहुंच जाती हैं और वहां दीमकों, तीर-नुमा शल्कों तथा कपास कीटों को खाने लगती हैं।

फलों को बगैर कटाई-छंटाई किए, उर्वरक दिए या रासायनिक छिड़काव के उगाना तभी संभव है जब कि उन्हें कुदरती माहौल में ही बढ़ने दिया जाए।

13

बागानों की धरती

इस बात को अलग से कहने की जरूरत नहीं है कि बागान-प्रबंधन में सबसे ज्यादा ध्यान मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने पर देना होता है। रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग से पेड़ तो बड़े-बड़े हो जाते हैं, लेकिन जमीन बिगड़ती जाती है। रासायनिक उर्वरक धरती से उसकी ऊर्जा खींच लेते हैं। एक ही बार उनका प्रयोग करने से ही मिट्टी को काफी नुकसान पहुंच जाता है।

खेतों के काम में सबसे ज्यादा समझदारी का रास्ता यही है, कि मिट्टी की गुणवत्ता में निरंतर वृद्धि की जाए। बीस साल पहले इस पहाड़ी की सतह पर बंजर लाल मिट्टी के अलावा कुछ नजर नहीं आता था। जमीन इतनी सख्त थी कि उसमें आप फावड़ा भी नहीं चला सकते थे। यहां आसपास की ज्यादातर जमीन ऐसी ही थी। लोग उसमें जब तक संभव था आलू उगाते थे और जब मिट्टी चुक जाती थी तो उसे छोड़कर आगे बढ़ जाते थे। आप यह भी कह सकते हैं कि खेती के नाम पर मैं केवल नारंगियों और सब्जियों ही नहीं उगा रहा बल्कि धरती की उर्वरता को भी दुबारा स्थापित कर रहा हूं।

चलिए, पहले हम इसी बारे में बात करें, कि मैंने इन बंजर पहाड़ी ढलानों को फिर से उपजाऊ कैसे बनाया। दूसरे महायुद्ध के बाद संतरे के बागानों को गहरे जोतने के बाद उनमें गड्ढे खोदकर जैव-खाद मिलाने की तकनीक की सिफारिश की गई थी। जब मैं परीक्षण-केंद्र की नौकरी छोड़कर यहां वापस लौटा तो मैंने अपने बागान में भी इसी तरीके को आजमाया। कुछ बरसों बाद मैं इस नतीजे पर पहुंचा, कि यह विधि न केवल शारीरिक रूप से थकानेवाली थी बल्कि, यहां तक मिट्टी को सुधारने का सवाल था, बिल्कुल ही बेकार भी।

सबसे पहले तो मैंने पुआल और पत्तों (फर्न) को मिट्टी में गाढ़ा। सर पर ढोकर 50-50 किलो पुआल और फर्न लाना काफी मेहनत का काम था, लेकिन दो-तीन वर्ष के बाद भी वहां खाद, मिट्टी मुट्ठी भर भी नहीं बनी। इन जैव पदार्थों को गाढ़ने के लिए जो खंदकें मैंने खोदी थीं, वे अंदर धंस कर खुली खाईयों में बदल गयीं।

इसके बाद मैंने लकड़ी के छिलपे गाढ़ना शुरू किया। ऐसा लगता है कि मिट्टी बनाने के लिहाज से तो पुआल ही ज्यादा अच्छा है, लेकिन जितनी मात्रा इस तरह की मिट्टी की बनती है, उस हिसाब से लकड़ी ही बेहतर है। यह तरीका भी लेकिन, तभी तक अच्छा है, जब तक कि आसपास काटने के लिए वृक्ष हों। उन लोगों के लिए जिनके नजदीक पेड़ नहीं हैं, उन्हें तो कहीं दूर से लकड़ी ढोकर लाने की बजाए वहीं बागानों में उन्हें उगा लेना बेहतर होगा।

मेरे बागान में आपको देवदार, चीड़, जापानी चेरी तथा नाशपाती, तेंदू तथा कई देसी किस्मों के पेड़, संतरों के पेड़ों के बीच ही उगते नजर आएंगे। मगर इनमें सबसे उल्लेखनीय पेड़ मेरीसिमा बबूल है। यह वही वृक्ष है जिसका जिक्र मैंने लेडी-बग तथा प्राकृतिक परभक्षी कीटों तथा प्राकृतिक संरक्षण के सिलसिले में किया था।

इस पेड़ की लकड़ी सख्त होती है, इसके फूल मधुमक्खियों को ललचाते हैं तथा पत्तियां पशु-आहार के काम आती हैं। यह पेड़ बाग में कीड़ों के प्रकोप को भी रोकता है, हवा के लिए आड़ बनता है तथा इसकी जड़ों में रहनेवाले राइजोबियम जीवाणु मिट्टी को उपजाऊ बनाते हैं।

यह वृक्ष कुछ बरस पहले जापान में आस्ट्रेलिया से लाया गया, तथा मेरे देखे गए पेड़ों में सबसे तेजी से बढ़ता है। कुछ ही महीनों में इसकी जड़ काफी गहरी चली जाती है तथा छह-सात साल में यह टेलीफोन के खंबे जितना ऊंचा हो जाता है। इसके अलावा यह पेड़ नाइट्रोजन का संतुलन भी बनाता है। अत: यदि चौथाई एकड़ में इसके 6 से 10 पेड़ लगा दिए जाएं तो गहरे स्तर की मिट्टी को उपजाऊ बनाने के लिए आपको पहाड़ पर से लकड़ी के लट्ठे ढो-ढो कर लाने की कमरतोड़ मेहनत नहीं करनी पड़ेगी।

जहां तक ऊपरी सतह की मिट्टी का सवाल है, मैंने बंजर जमीन पर सफेद बन-मेथी और अल्फा-अल्फा घास बो दी। उन्हें जमने में तो कई बरस लगे, लेकिन एक बार जम जाने पर उन्होंने पूरे बागान के पहाड़ी ढलानों को ढंक लिया। मैंने वहां जापानी मूली भी बोई। इस उत्साही सब्जी की जड़े भी जमीन में गहरी जाती हैं, और उनमें जैव-पदार्थ बढ़ाने के अलावा वह हवा और पानी के आने-जाने के लिए उसमें रास्ता बनाती हैं। इसके बीज अपने आप गिरते और उगते रहते हैं। तथा एक बार बो देने के बाद आप उसे लगभग भूल जा सकते हैं।

जैसे ही मिट्टी में कुछ सुधार आया, खरपतवारों ने भी वापस लौटना शुरू कर दिया। सात-आठ साल के बाद खरपतवार में बन-मेथी जब दिखलाई पड़ना ही बंद हो गई, तो मैंने गर्मियों के अंतिम दिनों में खरपतवार काटकर, थोड़े से मेथी के बीज खेत में और बिखेर दिए।

इस घने मेथी एवं खरपतवार की चादर का ही नतीजा यह रहा, कि पच्चीस से भी ज्यादा बरसों में बागान की मिट्टी की ऊपरी सतह, जो पहले लाल कड़क चिकनी मिट्टी की थी, वह अब नरम सांवली और केंचुओं और जैव-पदार्थों से समृद्ध हो गई है।

हरी खाद के द्वारा मिट्टी की ऊपरी सतह को उर्वर बनाने तथा मोटिसिमा बबूल की जड़ों द्वारा गहरी मिट्टी के सुधर जाने के बाद आपको न तो उर्वरक उपयोग करने की आवश्यकता होगी, और न ही बागान के वृक्षों की जमीन की निंदाई-गुड़ाई या जुताई करने की ही जरूरत रह जाती है। तेज हवा को रोकने के लिए ऊंचे वृक्षों, बीच में संतरे के पेड़ों तथा नीचे हरे खाद की चादर के साथ मैंने आराम से बैठने तथा बागान को अपनी देखभाल आप करने देने का तरीका ढूंढ लिया है।

14

सब्जियां उगाईए, जंगली पौधों की तरह

अब हम सब्जियां उगाने के बारे में बात करें। अपने रसोई-घर की पूर्ति के लिए सब्जियां उगाने के लिए आप या तो अपने पिछवाड़े के आंगन का उपयोग कर सकते हैं या उन्हें खुली, खाली जमीन पर भी उगा सकते हैं।

पिछवाड़े के आंगन के बाग के बारे में तो सिर्फ इतना ही कहना काफी है कि आपको सही सब्जियां सही समय पर जैव तथा कूड़ा-खाद से तैयार की हुई मिट्टी पर उगानी चाहिए। पुराने जमाने के जापान में रसोई के लिए सब्जियां उगाने का काम प्राकृतिक जीवनशैली के साथ घुला-मिला हुआ था। बच्चे पीछे के आंगन में पेड़ों के नीचे खेलते थे। रसोई का बचा-खुचा खाते हुए सुअर भी वहां लोट लगाते थे। कुत्ते वहीं भौंकते-खेलते थे। सब्जियों के साथ ही केंचुएं और तरह-तरह के कीड़े भी पनपते थे। मुर्गियां इन केंचुओं को चुगती थीं, और बच्चों के लिए अंडे देती थीं।

अभी बीस साल के कुछ पहले तक जापान के असली देहाती परिवार सब्जियां इसी ढंग से उगाते थे।

पौधों को बीमारियां लगने से बचाने के लिए सही वक्त पर सही किस्म की सब्जियां उगाई जाती थीं। सारे बचे-खुचे जैव-पर्दाथों को वापस जमीन को लौटा कर तथा फसलों को बदल-बदलकर उगा, उसकी उर्वरता को बनाए रखा जाता है। हानिकारक कीड़ों को या तो हाथ से हटा दिया जाता था, या फिर उन्हें मुर्गियों चुग जाती थीं। दक्षिण के शिकोकू इलाके में एक खास तरह की मुर्गियां होती थीं, जो कीड़ों-मकौड़ों को, बगैर पौधों को खरोंचे या जड़ों को नुकसान पहुंचाए खा जाती थीं।

कुछ लोगों को पशुओं तथा इंसानों के मल से बनी खाद का इस तरह उपयोग करना गंदा या पुराने ढंग का लग सकता है। आजकल लोगों को 'स्वच्छ' सब्जियां पसंद हैं, इसलिए वे उन्हें बगैर मिट्टी का उपयोग किए 'ग्रीन-हाऊस' में उगाना पसंद करते हैं।

इधर कुछ दिनों से रेत-कृषि, कंकड़, तथा कृषि ज्यादा लोकप्रिय हो रही है। सब्जियां रासायनिक खुराकों तथा प्लास्टिक की जाली से छनकर आती धूप की मदद से उगाई जाती है। बड़ी अजीब बात है, कि रासायनिक ढंग से उगाई गई इन सब्जियों को 'स्वच्छ' तथा खाने में सुरक्षित मानते हैं। सब्जियां तो वही स्वच्छ तथा पौष्टिक होती हैं, जिन्हें केंचुओं-कीड़ों, सूक्ष्म जीवाणुओं तथा सड़ती हुई प्राणी-खाद की क्रियाओं के द्वारा संतुलित मिट्टी में उगाया जाता है।

खाली जमीन, नदी-तटों या खुले बंजर इलाकों का उपयोग करते हुए सब्जियों को अर्द्ध जंगली ढंग से उगाने के मेरे तरीके में सब्जियों के बीच बस यों ही उछाल दिए जाते हैं, और उन्हें अन्य खरपतवार के साथ ही उगने दिया जाता है। अपनी सब्जियां मैं पहाड़ियों पर नारंगी के वृक्षों के बीच की जगह में उगाता हूं।

सबसे जरूरी बात यह है, कि आपको बीज बोने का सही समय मालूम हो। वसंत में पकनेवाली सब्जियों को बोने का सही समय वह है जब कि जाड़े में उगी खरपतवार फिर सूखने लगी हो तथा गर्मियों की खरपतवार के कल्ले फूटना अभी शुरू न हुए हों। पतझड़ की बोवनी के लिए बीज तभी बिखेरे जाने चाहिए जब गर्मियों की घास-पात मुरझाने लगी हो तथा जाड़े की पतवार में कल्ले न फूटे हों।

सबसे अच्छा तो यह होगा, कि हम उस बारिश का इंतजार करें जो कई दिनों तक लगातार जारी रहे। खरपतवार के बीच एक कतार काटकर उसमें सब्जियों के बीज बो दें। उन्हें मिट्टी से ढंकने की कोई जरूरत नहीं है, सिर्फ जो खरपतवार आपने काटी है उसी से उन्हें ढंक दें। वही उन्हें अंकुरित होने तक

पक्षियों और मुर्गियों से भी बचाएगी। तथा खाद-मिट्टी का काम भी करेगी। आमतौर से पतवार (वीड्स) को दो या तीन बार काटना पड़ता है, लेकिन कई बार एक बार में ही सब्जियों के बीज उनसे ज्यादा तेजी से बढ़ जाते हैं।

जहां पतवार (वीड्स) या मेथी का आवरण ज्यादा सघन नहीं है वहां आप बीजों को बस यों ही बिखेर दे सकते हैं। कुछ बीजों को मुर्गियां खा जा सकती हैं, लेकिन बहुत से अंकुरित हो जाएंगे। यदि आप उन्हें कतारबद्ध या हल-रेखा में बोते हैं तो इस बात की संभावना है कि बहुत से बीजों को कीड़े या गुबरैल खा जाएं। क्यों कि ये हमेशा सीधी रेखा में चलते हैं। साफ की हुई जमीन के टुकड़े पर मुर्गियों की नजर भी पड़ सकती है। और वे वहां उसे खरोचने के लिए आ-जा सकती है। मेरा तजुर्बा तो यही कहता है कि बीजों को इधर-उधर ही बिखेर देना चाहिए।

इस तरह से उगाई गई सब्जियां उससे ज्यादा पुष्ट होती हैं, जितनी कि उनके बारे में अधिकांश लोगों की धारणा होती है। यदि वे खरपतवार से पहले अंकुरित हो जाती हैं तो बाद में उनके बढ़ने के दौरान पिछड़ जाने का खतरा नहीं होगा। पालक और गाजर जैसी कुछ सब्जियां आसानी से अंकुरित नहीं होतीं। इस समस्या को, बीजों को एक दिन पानी में भिगोकर रखने तथा बाद में मिट्टी की गोलियों में लपेटकर फिर बोने से हल किया जा सकता है। जरा ज्यादा सघनता से बोने पर जापानी गाजर, चुकंदर तथा बहुत सी हरी-पत्तीदार जाड़ों की सब्जियां इतनी सशक्त होंगी कि वे जाड़े या शुरू वसंत की खरपतवारों से सफलतापूर्वक होड़ ले सकें। कुछ पौधे बिना काटे छोड़ दिए जाते हैं और वे सालों-साल अपने आप पुनर्जिवित होते जाते हैं। उनकी खुशबू अलग-अलग ही होगी तथा वे खाने में निराली लिज्जत देते हैं।

पहाड़ी पर यहां-वहां कई अज्ञात सब्जियों को भी फलते-फूलते देखना, बड़ा अद्भुत दृष्य उपस्थित करता है। जापानी गाजर तथा चुकंदर आधे जमीन में भीतर तथा आधे उसक ऊपर उगते हैं। गाजर और मूलियां कुछ ठिगनी और मोटी उगती हैं तथा उनमें रेशों के रूप में जड़े निकली रहती हैं। स्वाद उनका कुछ तीखा और कड़वाहट लिए होता है। जो कि शायद उनके जंगली पूर्वजों की देन है। लहसुन, जापानी मोतिया-प्याज, तथा चीनी-प्याज तो बिना बोए दर साल अपने आप उगते रहते हैं।

फलियों और द्वि-दलों की खेती वसंत में सबसे अच्छी होती है। मोठ और सेम आसानी से उगती है। तथा अच्छी पैदावार देती हैं। मोठ, सेम, सोया, लाल अजुकी फलियों आदि के लिए उनका जल्दी अंकुरित होना जरूरी होता है। यदि बारिश जल्दी न हुई तो उन्हें अंकुरित होने में दिक्कत आएगी और उन्हें पक्षियों और कीड़ों से भी बचाना पड़ेगा।

टमाटर तथा बैंगन जब छोटे रहते हैं तो उन्हें खरपतवार से होड़ लेने में कठिनाई होती है। इसलिए उन्हें पहले अलग क्यारी में बोकर फिर बाद में दुबारा रोपना चाहिए। टमारटरों को एक जगह एकत्र करने की बजाए पूरे खेत में फैलने देना चाहिए। मुख्य तने से निकलकर उनकी जड़े गठानों से नीचे जमीन में जाती हैं, और उनमें से नए अंकुर फूट कर बाहर आते हैं तथा वे फल देते हैं।

जहां तक ककड़ी का सवाल है, जमीन पर रेंगनेवाली किस्म सबसे अच्छी होती है। शुरू में पौधे को जरा संभालना पड़ता है तथा कभी-कभी खरपतवार छांटनी पड़ती है, लेकिन बाद में पौधा मजबूत हो

जाता है। किसी पेड़ की शाखें या बांस खोंस देने पर ककड़ी की बेल उससे लिपट जाती है। इससे शाखाएं फलों को जमीन से ऊपर उठाए रखती हैं और वे सड़ती नहीं हैं।

ककड़ी उगाने का यही तरीका तरबूजों और कुमढ़ों के लिए भी अपनाया जा सकता है।

आलू और अरबी के पौधे मजबूत होते हैं। एक बार उग जाने पर वे उसी जगह हर साल उगते रहते हैं और उन पर खरपतवार हावी नहीं होती। फसल काटते समय कुछ को जमीन में ही रहने देना चाहिए। यदि जमीन सख्त हो तो पहले जापानी मूलियां उगानी चाहिए। ज्यों-ज्यों उनकी जड़ें फैलती जाती हैं त्यों-त्यों जमीन नर्म होती जाती है और कुछ मौसमों के बाद वहां आलू बोए जा सकते हैं।

खरपतवार को नियंत्रित करने में सफेद बनमेथी को मैंने काफी उपयोगी पाया है। वह बहुत घनी फैलती है तथा वह ताकतवर खरपतवारों को भी पिछाड़ देती है। यदि मेथी की सब्जियों के बीज मिलाकर बोया जाए तो वह उनके लिए खाद-मिट्टी का काम करती है। वह मिट्टी को उर्वर बनाती है तथा जमीन को नर्म रखते हुए उसमें हवा का आना-जाना जारी रखती है।

सब्जियों की तरह ही मेथी बोने के लिए भी वक्त सही चुना जाना चाहिए। सबसे अच्छा समय गर्मियों का अंत तथा पतझड़ का मौसम होगा। सर्दियों के दौरान जड़ें विकसित हो जाती हैं। जिससे मेथी वसंत में उगनेवाली वार्षिक घासों से अधिक तेजी से बढ़ती है। वसंत के प्रारम्भ में ही बो देने से मेथी अच्छी पनपती है। उसे आप यों ही बिखेर भी सकते हैं, और बारह इंच का फासला रखते हुए कतार में भी बो सकते हैं। एक बार जम जाने के बाद मेथी को पांच-छह वर्ष तक फिर से बोने की जरूरत नहीं पड़ेगी।

सब्जियों को इस अर्ध-जंगली ढंग से उगाने का उद्देश्य यही है कि फसलों को जमीन पर यथासंभव प्राकृतिक ढंग से बढ़ने दिया जाए तो वे वैसी बढ़ती ही रह जाती हैं। इस जमीन पर यदि आप सुधरी हुई तकनीकों का उपयोग करते हैं, और अधिक पैदावार लेने का प्रयास करते हैं, तो आपकी यह कोशिश असफल रहेगी। अधिकांश मामलों में असफलता का कारण बीमारियां या कीड़े होंगे। यदि विभिन्न प्रकार की जड़ी-बूटियां या सब्जियां मिलाकर तथा प्राकृतिक वनस्पतियों के बीच उगाई जाती हैं, तो कीड़ों और बीमारियों से होनेवाली हानि कम-से-कम होगी, और न तो दवाईयों का छिड़काव करना होगा, न कीड़ों को हाथ से बीन-बीन कर हटाना होगा।

आप सब्जियां जहां भी उगाएंगे, खरपतवार की वृद्धि जोरदार तथा विविध किस्म की होगी। यह बहुत जरूरी है कि आप घास तथा पतवार (वीड्स) के वार्षिक चक्र तथा उगने के ढंग से सुपरिचित हो जाएं। किसी खास इलाके की खरपतवार तथा घासों की विविधता तथा आकार देखकर आप बतला सकते हैं, कि वहां की मिट्टी कैसी है और उसमें किस प्रकार की कमी है या नहीं।

अपने बाग में मैं टमाटर, गाजर, सरसों, फलियां, चुकंदर तथा कई अन्य प्रकार की सब्जियों और जड़ियां इसी अर्ध-जंगली ढंग से उगाता हूं।

15

रसायनों को त्याग करने की शर्तें

आज जापान में चावल की खेती एक निर्णायक दौर से गुजर रही है। किसान और विशेषज्ञ दोनों भ्रमित हैं कि कौन सा रास्ता अपनाएं - धान के रोपे लगाना जारी रखें या सीधे बीज बोने का तरीका अपनाएं और यदि यह बाद वाला रास्ता चुनें तो खेतों को जोतें या बिना हल चलाए खेती करें। मैं बीस साल से कह रहा हूं कि अंततः सीधे बीज बोकर बिना-जोते खेती ही सर्वश्रेष्ठ तरीका साबित होगा। जिस तरह आकायामा जिले में सीधे बुआई का तरीका तेजी से लोकप्रिय होता जा रहा है उससे लोगों की आंखें खुल जानी चाहिए।

लेकिन ऐसे लोग भी हैं जो बिना रसायनों का प्रयोग किए खेती करते हुए देश की खाद्यान्न जरूरतों को पूरा करने की बात सोच भी नहीं सकते। उनकी दलील है कि बगैर रासायनिक उपचार के चावल को लगनेवाली तीन बड़ी बीमारियां - तनों का सड़ना, घुन लगना तथा पत्तियों को कीड़ा लगना - को नियंत्रित किया ही नहीं जा सकता। लेकिन यदि किसान बीजों की कमजोर 'सुधरी हुई' किस्मों का उपयोग बंद कर दें, मिट्टी में जरूरत से ज्यादा नाईट्रोजन न मिलाएं, और बहुत ज्यादा सिंचाई न कर जड़ों को पुष्ट हो विकसित होने दें तो ये तीनों बीमारियां गायब हो जाएंगी और रासायनिक छिड़काव की जरूरत नहीं रहेगी।

शुरू में मेरे खेतों की लाल चिकनी मिट्टी कमजोर और चावल उगाने के लिए अनउपयुक्त थी। कत्थई चकते पड़ जाने की बीमारी अक्सर पौधों को लग जाया करती थी। मगर ज्यों-ज्यों खेतों की उर्वरता बढ़ती गई, त्यों-त्यों यह बीमारी कम होती गई। इधर कुछ समय से तो यह बीमारी फैली ही नहीं है।

यही स्थिति कीटों से होने वाले नुकसान के बारे में भी है। सबसे अहम बात तो यह है कि प्राकृतिक कीट-भक्षियों को न मारा जाए। कीड़ों की समस्या खेतों में लगातार पानी भरे रखने या प्रदूषित या थमे हुए पानी से सिंचाई करने से भी बढ़ती है। सबसे ज्यादा नुकसानदेह कीड़े यानी गर्मियों तथा पतझड़ में होने वाले टिड्डों को काबू में रखने का एक ही तरीका है कि, पानी को खेतों से दूर रखा जाए।

जाड़ों के मौसम में खरपतवारों में रहने वाले चावल के हरे टिड्डे, विषाणुओं की मेजबानी करते हैं। यदि ऐसा होने दिया जाता है तो चावल को घुन लगने से दस से बीस प्रतिशत फसल का नुकसान हो सकता है। यदि रासायनिक छिड़काव न किया जाए तो खेतों में इतनी मकड़ियां तो रहेंगी ही कि आप आमतौर से उनपर इनसे निपटने का काम छोड़ सकते हैं। लेकिन ये मकड़ियां इंसानों की जरा सी भी छेड़-छाड़ पसंद नहीं करती और इस मामले में सावधान रहना जरूरी है।

अधिकांश लोग यह सोचते हैं कि रासायनिक उर्वरकों तथा कीटनाशकों का प्रयोग न करने पर कृषि पैदावार वर्तमान स्तर से बहुत कम होगी। कीट-क्षति के विशेषज्ञों का अनुमान है कि, कीटनाशकों का प्रयोग बंद करने के बाद पहले ही वर्ष में फसलों की पांच प्रतिशत की हानि होगी। इतनी ही हानि रासायनिक उर्वरकों को त्यागने से भी हो सकती है।

अर्थात, यदि खेतों में पानी का उपयोग घटा दें, तथा कृषि सहकारी समितियों द्वारा प्रोत्साहित रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों का उपयोग बंद ही कर दिया जाए तो पहले वर्ष में फसलों की औसत हानि संभवत: दस प्रतिशत तक पहुंच जाएगी। लेकिन प्रकृति में स्वास्थ्य लाभ करने की शक्ति, चूंकि कल्पनातीत होती है, इसलिए मेरा विश्वास है कि पहले साल के नुकसान के बाद पैदावार बढ़ने लगेगी, और अंतत: उनके पहले स्तर से आगे निकल जाएगी।

जिन दिनों मैं कोची परीक्षण-केंद्र में काम करता था, मैंने तने के घुन की हानि रोकने के बारे में परीक्षण किए थे। ये कीड़े चावल के पौधे के डंठल में प्रवेश कर उसे खाने लगते हैं। नतीजा यह होता है कि तना सफेद पड़कर मुरझाने लगता है। नुकसान का हिसाब लगाने का तरीका सीधा-सा है। सफेद डंठलों या चावलों की गिनती कर लीजिए। सौ पौधों में से दस या बीस प्रतिशत डंठल सफेद हो सकते हैं। ज्यादा गंभीर मामलों में जब ऐसा लगा कि पूरी फसल ही बरबाद हो गई है, तब भी वास्तविक नुकसान तीस प्रतिशत से ज्यादा नहीं होता।

इस नुकसान को रोकने की कोशिश में एक खेत में तो डंठलों में छेद करने वाले कीड़ों पर कीटनाशक छिड़के गए और दूसरे खेत को वैसा ही रहने दिया गया। जब दोनों खेतों की पैदावार का हिसाब लगाया गया तो बिना दवा छिड़के और मुरझाए पौधे वाले खेत की पैदावार अधिक पाई गई। शुरू में तो खुद मुझे ही इस पर विश्वास नहीं हुआ, और मुझे लगा कि कहीं परीक्षण में कुछ भूल हो गई होगी, लेकिन जब आंकड़े सही पाए गए तो मैंने और आगे जांच-पड़ताल की।

हुआ यह था कि कमजोर पौधों को चपेट में लेकर कीड़ों ने जो कुछ पौधों की सघनता कम कर दी थी उससे बाकी पौधों को फैलने के लिए जगह मिल गई। सूर्य की किरणें निचली पत्तियों तक पहुंचीं और इससे यह बाकी पौधे ज्यादा ताकतवर होकर बढ़े। तथा उनमें अनाज देनेवाली शाखाओं की संख्या उससे कहीं ज्यादा बढ़ गई, जितनी की विरलता न रहने पर रही होती। जब शाखाएं बहुत घनी होती हैं तथा कीड़े अतिरिक्त शाखाओं को खाकर विरलता पैदा नहीं करते तो, पौधे देखने में तो बहुत स्वस्थ्य नजर आते हैं, लेकिन कई बार फसल वास्तव में कम होती है।

कई अनुसंधान प्रयोग परीक्षण केंद्रों की रपटों का अवलोकन करने से आपको पता चलेगा कि पाए जानेवाले हर किस्म के रसायनों के छिड़काव के बाद नतीजा क्या रहा, लेकिन आमतौर से लोग यह नहीं समझते, कि इन रपटों में आधे से ज्यादा नतीजों का उल्लेख ही नहीं किया जाता। बेशक, इरादा किसी बात को छिपाने का नहीं होता, लेकिन, जब दवा निर्माता कंपनियां इन नतीजों को प्रकाशित करती हैं (अपने विज्ञापनों आदि में) तो वह ऐसे ही होते हैं जैसे परस्पर-विरोधी आंकड़ों / जानकारियों को छुपा लिया गया हो। वे कम पैदावार बतलाने वाले नतीजों - मसलन डंठल छेदनेवाले कीड़ों पर किए गए परीक्षण, को परीक्षण-खामियां कहकर निपटा देते हैं। बेशक, ऐसे प्रकरण भी हैं जहां कीट उन्मूलन से पैदावार बढ़ी भी है, लेकिन साथ ही ऐसे मामले भी हैं, जहां इससे पैदावार घटी है। इन बाद वाले परीक्षणों की रपटें आमतौर पर प्रकाशित नहीं होती हैं।

कृषि रसायनों में शाकनाशी ही वे रसायन हैं, जिनका उपयोग न करने के लिए किसानों को राजी करना सबसे ज्यादा कठिन होता है। पुरातन काल से ही किसान उस बीमारी से ग्रस्त हैं जिसे हम

'खरपतवारों के खिलाफ जंग' कह सकते हैं। खेतों को जोतना, कतारों के बीच फसल बोना, खूब चावल के रोपे लगाना, इन सभी अनुष्ठानों का एक ही उद्देश्य है - खरपतवार का नाश करना। शाकनाशियों के आविष्कार के पूर्व किसानों को हर मौसम में पानी भरे खेतों में मीलों चक्कर लगाकर निंदाई-यंत्र या हाथ से भी, निंदाई करनी पड़ती थी। इस मशक्कत को देखते हुए शाकनाशी रसायनों को किसानों ने देवताओं का वरदान ही समझा। लेकिन पुआल और मेथी के उपयोग तथा खेतों के कुछ ही देर के लिए जल प्लावित करने के रूप में मैंने खरपतवार नियंत्रण का एक ऐसा सहज तरीका खोज लिया है, जिसमें न तो कड़ी धूप में निंदाई को कठोर परिश्रम करना पड़ता है, और न ही रसायनों का उपयोग ही।

16

वैज्ञानिक विधि की सीमाएं

अनुसंधानकर्ताओं को अनुसंधानकर्ता बनने से पहले दार्शनिक बनना चाहिए। उन्हें इस बात पर विचार करना चाहिए, कि मानव का लक्ष्य क्या है? तथा मानवता को किस चीज का सृजन करना चाहिए। डॉक्टरों को बुनियादी तौर पर पहले यही तय करना चाहिए, कि वह कौन सी चीज है जिस पर मानव जिंदा रहने के लिए निर्भर करता है।

खेती पर अपने सिद्धांतों को लागू करते हुए मैं अपनी फसलें कई विभिन्न तरीकों से उगाने के प्रयोग करता रहा हूं मगर मेरा उद्देश्य हमेशा एक ऐसी विधि खोजने का रहा है जो प्रकृति से बहुत करीब हो। बहुत सी गैर-जरूरी कृषि प्रथाओं को त्याग कर मैं ऐसा कर पाया हूं।

लेकिन आधुनिक वैज्ञानिक कृषि के पास ऐसी कोई दृष्टि नहीं है। अनुसंधान कार्य दिशाहीन हो यहां-वहां भटकता रहता है। हर अनुसंधानकर्ता को उन असीम प्राकृतिक तत्वों का मात्र एक छोटा सा अंश ही नजर आता है जो फसल पैदावारों को प्रभावित करता है। इतना ही नहीं, ये प्राकृतिक कारक या घटक हर वर्ष तथा स्थान-स्थान के साथ बदलते रहते हैं।

जमीन तो वही होती है लेकिन किसान को हर वर्ष मौसम, कीड़ों की आबादी, मिट्टी की स्थिति तथा कई अन्य प्राकृतिक कारकों के बदलावों को ध्यान में रखते हुए अलग-अलग फसलें उगाना चाहिए। हर जगह प्रकृति निरंतर गतिशील रहती है। किन्हीं भी दो वर्षों में हालात ठीक एक जैसे कभी नहीं रहते।

आधुनिक विज्ञान प्रकृति को छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटकर जो परीक्षण करता है उनसे न तो प्रकृति के नियमों की पुष्टि होती है, न व्यावहारिक अनुभवों की। इनके नतीजे अनुसंधान की सुविधा के हिसाब से व्यवस्थित किए जाते हैं, न कि किसान की जरूरतों के मुताबिक। यह सोचना बहुत बड़ी भूल होगी कि इन निष्कर्षों को किसान के खेतों में आजमाने से हमेशा सफलता प्राप्त होगी।

हाल ही में एहाईम विश्वविद्यालय के प्रोफेसर त्सूनों ने एक बड़ी किताब चावल की पैदावार के साथ पौधों की आंतरिक प्रक्रियाओं (मेटाबोलिज्म) के संबंधों के बारे में लिखी। यह प्राध्यापक महोदय अक्सर मेरे खेत पर आते हैं, मिट्टी को जांचने के लिए कुछ फुट तक जमीन को खोदते हैं, अपने साथ छात्रों को लाते हैं जो धूप के कोण को नापते हैं तथा और भी न जाने क्या-क्या करते हैं, और पौधों के नमूने

अपने साथ प्रयोगशालाओं में जांचने के लिए ले जाते हैं। मैं उनसे अक्सर पूछता हू, 'क्या वापस जाकर आप जुताई बिना, सीधे बीज बोने की यह विधि अपनाने वाले हैं?' तो वे हंसते हुए जवाब देते हैं, 'इन्हें व्यवहार में लाने का काम तो मैं आप पर छोड़ता हूं। मैं तो सिर्फ अनुसंधान से ही जुड़ा रहना चाहता हूं।'

तो ऐसी स्थिति है। आप पौधों की आंतरिक प्रक्रिया (मेटाबोलिज्म) का तथा मिट्टी से उसकी पोषणग्रहण करने की क्षमता का अध्ययन करते हैं, किताब लिखते हैं, कृषि विज्ञान की डॉक्टरेट प्राप्त करते हैं, लेकिन खुद से यह सवाल नहीं पूछते कि आपके सिद्धांतों का पैदावार के साथ कोई संबंध बनता है या नहीं।

यदि आप यह समझाने में सफल हो भी जाते हैं कि औसत 84 डिग्री फैरेनहाईट के तापमान पर होनेवाले मेटाबोलिज्म का पौधे की फुनगी पर की पत्तियों की उत्पादकता पर क्या असर होगा, तो भी कुछ ऐसी जगहें हो सकती हैं, जहां तापमान 84 डिग्री फैरेनहाईट नहीं हो सकता। और फिर एहाइम में इस वर्ष 84 डिग्री तापमान है तो, हो सकता है अगले वर्ष 75 डिग्री ही रहे। अतः यह कहना कि सिफ आंतरिक प्रक्रिया (मेटाबोलिज्म) बढ़ा देने से स्टार्च का निर्माण अधिक होने लगेगा और पैदावार बढ़ जाएगी, गलत ही है। जमीन का भूगोल तथा भू-रचना, मिट्टी की स्थिति, उसकी संरचना, उसकी बुनावट, जल-निकास, कीटों के परस्पर संबंध, धूप कितनी आती है, उपयोग किए गए बीजों की किस्म, खेती का तरीका, आदि असंख्य बातें हैं जिन पर विचार करना पड़ेगा। कोई भी ऐसी वैज्ञानिक विधि असंभव है जो इन सारे तत्वों का समावेश कर उन पर विचार करती हो।

इन दिनों आप 'हरित क्रांति' तथा 'अच्छा चावल आंदोलन' की बातें बहुत सुनते हैं। चूंकि ये विधियां कमजोर 'सुधरे हुए' बीजों का उपयोग करती हैं, किसानों के लिए यह बहुत जरूरी हो जाता है कि एक ही फसल-मौसम के दौरान वे आठ-दस बार रसायनों और कीटनाशकों का उपयोग करें। ऐसा करने पर बहुत ही छोटे समय में धरती के सूक्ष्मजीवाणु तथा जैव-तत्व जल कर राख हो जाते हैं। मिट्टी में कोई जान नहीं रह जाती तथा फसलें रासायनिक उर्वरकों के रूप में बाहर से डाले जाने वाले पोषक तत्वों पर निर्भर हो जाती हैं।

ऐसा सिर्फ लगता है कि किसान यदि 'वैज्ञानिक तकनीके' अपनाए तो नतीजे बेहतर रहते हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं होता, कि चूंकि प्राकृतिक उर्वरता अपने आप में अपर्याप्त है, विज्ञान को उसकी मदद में आना चाहिए। इसका मतलब यह है, कि यह राहतकार्य इसलिए जरूरी हुआ, कि प्राकृतिक उर्वरता को पहले नष्ट कर दिया गया।

पुआल फैलाने, मेथी उगाने तथा सारे जैव अवशेष धरती को वापस लौटाने से धरती में वे सारे पोषक तत्व आ जाते हैं, जो चावल तथा जाड़े की फसलें, एक ही खेत में साल-दर-साल उगाने के लिए आवश्यक होते हैं। प्राकृतिक खेती के द्वारा उन खेतों को भी फिर से उपजाऊ बनाया जा सकता है, जिनको परिष्कार कर या कृषि रसायनों के उपयोग के कारण क्षति पहुंची है।

भाग 3

17

एक किसान से दो टूक बात

इन दिनों जापान में पर्यावरण के बिगड़ने तथा उसके कारण खाद्यों के प्रदूषित होने को लेकर काफी चिंता व्यक्त की जा रही है, जो कि वाजिब है। पर्यावरण के प्रति नेताओं और उद्योगपतियों की उपेक्षा के विरोध में प्रर्दशनों और बहिष्कारों का आयोजन भी किया जा रहा है। लेकिन यह सारी कवायद, यदि इसी भावना के साथ की जाती रही तो उसका नतीजा बेकार में की गई मेहनत ही होगा। कुछ खास तरह के प्रदूषणों को हटा देने की बात वैसी ही है जैसे कि हम बीमारी के लक्षणों का इलाज करते रहे और बीमारी का मूल कारण इस दौरान पनपता रहे।

मिसाल के लिए, दो वर्ष पूर्व प्रदूषण की समस्या पर चर्चा करने के लिए, एक सम्मेलन कृषि प्रबंधन अनुसंधान केंद्र ने जैव-कृषि परिषद तथा नादा सहकारी समिति के संयुक्त तत्वाधान में आयोजित किया गया। इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे श्री तेरूओ इचिराकू, जो कि जापानी जैव-किसान संघ प्रमुख होने के साथ ही सरकारी सहकारी समितिओं की एक बड़ी हस्ती भी हैं। इस एजेंसी द्वारा, कौन सी फसलें तथा बीज किस्में उगाई जाएं, कितने उर्वरकों का उपयोग किया जाए, तथा कौन से रसायनों का इस्तेमाल हो, आदि के बारे में सलाह दी जाती है। इस सलाह का पालन जापान का हर ग्रामीण किसान करता है।

क्योंकि इस सम्मेलन में इतने विविध तथा प्रभावशाली लोग हिस्सा ले रहे थे, मैं भी इस उम्मीद से वहां पहुंचा कि वहां कुछ दूरगामी कार्यवाही तय करके क्रियान्वित की जाएगी।

खाद्य-प्रदूषण की समस्या को प्रचारित कराने के लिहाज से इस सम्मेलन को सफल कहा जा सकता हे। लेकिन, अन्य ऐसी ही बैठकों में जैसा कि आमतौर से होता है, यहां भी चर्चाएं, शोध-विशेषज्ञों की बेहद तकनीकी रपटों तथा उनके खाद्य प्रदूषण के बारे में निहायत ही व्यक्तिगत और भयानक विवरणों में उलझकर रह गई। ऐसा लगा कि समस्या के साथ उसके बुनियादी स्तर पर दो-चार होने के लिए कोई भी तैयार नहीं था।

मिसाल के लिए ट्यूना मछलियों की मरक्यूरी (पारद) विषाक्तता पर जो चर्चाएं हुयीं उसमें मत्सय पालन ब्यूरो के प्रतिनिधि ने पहले तो यह बतलाया कि यह समस्या कितनी गंभीर हो गई है। चूंकि उन दिनों मरक्यूरी-प्रदूषण के बारे में दिन-रात रेडियो और टेलिविजन पर चर्चाएं हो रही थीं सभी ने, इस महानुभाव को इस विषय पर जो कुछ भी कहना था, उसे बड़े ध्यान से सुना।

इस वक्ता ने बतलाया कि ट्यूना मछलियों के शरीर में मरक्यूरी की मात्रा अंटार्कटिक महासागर तथा उत्तरी क्षेत्र में भी बहुत ज्यादा पाई गई, लेकिन जब कई सौ वर्ष पूर्व गए प्रयोगशाला नमूने को विच्छेदित कर उसका विश्लेषण किया गया तो आशा के विपरीत, इस मछली के शरीर में भी मरक्यूरी पाई गयी। वक्ता ने इससे जो अस्थाई निष्कर्ष निकाला उसका संकेत था, कि इस मछली के जिंदा रहने के लिए उसके द्वारा मरक्यूरी खाया जाना जरूरी था!

दर्शक व श्रोता अविश्वास से एक-दूसरे के चेहरे देखने लगे। इस बैठक का उद्देश्य संभवतः यह तय करना था, कि उस प्रदूषण से कैसे निपटा जाए, जिसने पहले ही पर्यावरण को दूषित कर दिया है तथा इसे दुरुस्त करने के उपाय क्या किए जाएं? लेकिन मत्स्य-पालन-ब्यूरो का अधिकारी वैसा कुछ न करते हुए कह रहा था कि मरक्यूरी ट्यूना मछली के जिंदा रहने के लिए जरूरी है। जब मैं कहता हूं कि लोग प्रदूषण की समस्या की जड़ को न पकड़ते हुए उसे एक संकुचित और सतही नजरिए से देखते हैं, तो मेरा मतलब इसी तरह की चीजों से होता है।

मैंने खड़े होकर सुझाव दिया, हम सब मिलकर, तत्काल इसी जगह प्रदूषण से निपटने के लिए एक संयुक्त कार्य योजना बना लें। क्या यह बेहतर नहीं होगा, कि हम प्रदूषण फैला रहे रसायनों के उपयोग को बंद करने के बारे में साफ-साफ बात करें? मसलन, चावल बगैर रसायनों के मजे से उगाया जा सकता है, और नारंगियां तथा सब्जियां भी। मैंने कहा कि ऐसा किया जा सकता है, और अपने फार्म पर मैं बरसों से ऐसा कर भी रहा हूं। लेकिन जब तक सरकार रसायनों के उपयोग की इजाजत देती रहेगी, मेरे अलावा कोई भी स्वच्छ-खेती को आजमाने के लिए तैयार नहीं होगा।

इस बैठक में मत्स्यपालन विभाग के सदस्य भी मौजूद थे। और उनके साथ ही कृषि, वानिकी तथा कृषि-सहकारी-समिति के लोग भी वहां थे। यदि इन लोगों तथा सम्मेलन के अध्यक्ष श्री ईचीराकू ने वाकई चाहा होता, कि इस देश में कुछ शुरुआत हो तथा यह सुझाव दिया होता, कि सारे देश में किसानों को बगैर रसायनों के चावल उगाने के प्रयोग करना चाहिए, तो क्रांतिकारी परिवर्तन हो सकता था।

बेशक, एक पेंच इसमें था। यदि फसलें बगैर कृषि रसायनों, उर्वरकों या मशीनों के उगाई जाने लगीं तो बड़ी-बड़ी रसायन निर्माता कंपनियों बेकार हो जाएंगी और सरकार की कृषि सहकारी ऐजेंसी भी ध्वस्त हो जाएंगी। इस मामले को सबके सामने उठाते हुए मैंने कहा, कि सहकारी समितियां तथा कृषि-नीतियां तय करने वालों की सत्ता का आधार विराट कृषि मशीनों और उर्वरकों के कारखानों में लगी विराट पूंजी ही है।

रसायनों और मशीनों का उपयोग बंद करने से आर्थिक और सामाजिक ढांचा पूरी तरह बदल जाएगा। इसीलिए, मैं समझ गया कि श्री ईचीराकू, सहकारी समितियां या सरकारी अधिकारी, प्रदूषण हटाने के उपायों के पक्ष में बोल ही कैसे सकते हैं?

जब मैंने इस तरह खुली बात की तो अध्यक्ष महोदय ने यह कह कर कि, 'श्री फुकूओका, आप अपनी टिप्पणियों से इस सम्मेलन में अव्यवस्था पैदा कर रहे हैं,' मेरा मुंह बंद कर दिया। तो यह सम्मेलन बिना कुछ करे-धरे इस तरह समाप्त हो गया।

18

एक विकट समस्या का सरल हल

अतः प्रतीत ऐसा होता है कि सरकारी ऐजेंसियों का प्रदूषण बंद करने का कोई इरादा नहीं है। दूसरी दिक्कत यह है कि प्रदूषण के सारे पहलुओं को एक जगह एकत्र कर एक ही साथ हल किया जाना चाहिए। इस समस्या को वे लोग हल नहीं कर सकते, जो उसके किसी एक ही पहलू या हिस्से से ही

मतलब रखते हैं।

जब तक प्रत्येक व्यक्ति की चेतना में बुनियादी बदलाव नहीं आ जाता तब तक प्रदूषण बंद नहीं होगा।

मसलन, किसान सोचता है कि भीतरी समुद्र से उसे कोई सरोकार नहीं है। वह मानता है कि मछलियों की देखभाल का काम मत्स्य-पालन दफ्तर के अधिकारियों का है तथा महासागर-प्रदूषण के बारे में सोचने के लिए प्रदूषण परिषद है। समस्या की असली जड़, इस तरह का विभाजित सोच रही है।

सबसे ज्यादा उपयोग में आनेवाले रासायनिक उर्वरकों अमोनियम सल्फेट, यूरिया, सुपर-फास्फेट आदि का बहुत थोड़ा सा हिस्सा ही खेतों के पौधों द्वारा जस्ब किया जाता है। उनकी बाकी मात्रा पहले नदियों और झरनों में रिसकर पहुंचती है। और फिर वहां से बहकर भीतरी समुद्र में। ये नाईट्रोजन युक्त मिश्रण शैवालों और प्लवकों का भोजन बनते हैं। और उन्हीं के कारण हम समुद्र में लाल ज्वार उठते देखते हैं। बेशक, प्रदूषण में औद्योगिक कूड़ों तथा मरक्यूरी का योगदान भी होता है। लेकिन जापान में अधिकांश जल-प्रदूषण का कारण कृषि रसायन ही हैं।

यानी, लाल समुद्री ज्वार-भाटों की जिम्मेदारी किसानों पर है। वह किसान, जो कि प्रदूषण रसायन अपने खेतों में डालता है, वे बड़ी कंपनियां जो इन रसायनों का निर्माण करती हैं तथा वे ग्रामीण अधिकारी जो इन रसायनों के सुविधाजनक होने में विश्वास करते हुए किसानों से उनके उपयोग की सलाह देते हैं, ये सभी जब तक इस समस्या पर गंभीरता से चिंतन नहीं करेंगे, तब तक जल-प्रदूषण का सवाल नहीं हल हो सकेगा।

अभी तो स्थिति यह है कि जो लोग किसी भी प्रकार के प्रदूषण से प्रत्यक्षतः प्रभावित होते हैं, वही उससे सक्रिय रूप से निपटने को तैयार होते हैं, जैसा कि भिजुशिमा के समुद्र में खनिज तेल बह जाने पर बड़ी तेल कंपनियों के विरुद्ध वहां के मछुआरों ने आंदोलन किया था। फिर कोई विद्वान प्रोफेसर इस समस्या से निपटने के लिए शिकोकू द्वीप का पेट फोड़कर उसमें से प्रशांत महासागर का तुलनात्मक रूप से स्वच्छ पानी भीतरी समुद्र तक लाने का प्रस्ताव रख देता है। इस तरह की ही बातों पर बार-बार अनुसंधान किए जाते हैं। और उनसे समस्या का सही हल कभी नहीं निकल पाता।

मुद्दे की बात यह है कि हम जो कुछ भी करें, हालत बद-से-बदतर ही होती है। जितने ज्यादा जटिल प्रतिरोधी उपाय अपनाए जाते हैं, समस्या उतनी ही ज्यादा उलझती जाती है।

चलिए, माना कि एक पाईप शिकोकू द्वीप के आर-पार बिछाकर उसमें से प्रशांत महासागर का पानी वाकई पंप करके भीतरी समुद्र में छोड़ा जाने लगा। यह भी माना कि शायद इससे भीतरी समुद्र साफ हो जाएगा। मगर सोचिए कि इस्पात के पाइप बनाने वाले कारखाने को चलाने के लिए इतनी सारी बिजली कहां से आएगी, और फिर पानी पंप करने के लिए बिजली लगेगी ही। इस सब के लिए कंक्रीट और अन्य ऐसी ही सामग्रियां जुटानी होंगी। यह यूरेनियम का आणविक केंद्र भी स्थापित करना होगा। जब इस ढंग से समस्याओं के हल निकाले जाते हैं, तो वे उन दूसरी और तीसरी पीढ़ी की समस्याओं को ही जन्म देते हैं, जो पहली वाली से कहीं ज्यादा जटिल और व्यापक होती हैं।

यह चीज कुछ वैसी ही है, कि एक लालची किसान सिंचाई की ग्राहक-नाली ज्यादा चौड़ी खोल देता है, और उसके धान के खेत में ढेर सारा पानी घुस आता है। मेढ़ में दरार पड़ती है और वह धसक जाती है। इसके बाद मरम्मत करना जरूरी हो जाता है। दीवारों को मजबूती प्रदान करनी पड़ती है तथा सिंचाई नहरों को भी चौड़ा करना पड़ता है। पानी की बढ़ी हुई मात्रा संभावित खतरे को बढ़ाती ही है, और इसके बाद यदि मेढ़ फिर टूटी तो उसे फिर से बनाने में इससे भी ज्यादा मेहनत करनी पड़ेगी।

जब भी किसी समस्या के लक्षणों से निपटने का निर्णय लिया जाता है तो यह पहले से मान लिया जाता है, कि इन दुरुस्ती उपायों से ही खुद समस्या का हल भी हो जाएगा। लेकिन अक्सर ऐसा होता नहीं है। यह बात इंजीनियरों के दिमाग में नहीं उतरती। ये सारे प्रतिरोधी उपाय, जो कुछ गलत हैं, उसकी बड़ी संकुचित परिभाषा पर आधारित होते हैं। मानव द्वारा किए गए उपाय तथा उपचार बहुत ही सीमित - वैज्ञानिक सच्चााईयों और निर्णय बुद्धि से पैदा होते हैं। कोई भी सही उपाय इस ढंग से कभी कारगर नहीं हो सकता।

पुआल बिछाने तथा बनमेथी उगाने जैसे मेरे विनम्र उपायों से कोई प्रदूषण नहीं होता। वे कारगर भी होते हैं, क्योंकि वे समस्या के मूल स्रोत को ही खत्म कर देते हैं। जब तक विराट प्रौद्योगिकी उपचारों में लोगों की इस आधुनिक श्रद्धा को ही उलट नहीं दिया जाता, तक तक प्रदूषण की समस्या बढ़ती ही रहेगी।

19

प्रदूषण फैलता है, बे-मौसमी, आकर्षक रूप-रंग वाले फलों से!

उपभोक्ता, आमतौर से यह मानकर ही चलते हैं कि, कृषि-प्रदूषण फैलाने में उनका कोई हाथ नहीं होता। उनमें से कई लोग ऐसे खाद्यों की मांग करते हैं जिसे रासायनिक रूप से प्रोसेस न किया गया हो। लेकिन रासायनिक रूप से प्रोसेस्ड खाद्य बाजार में मिलते ही उपभोक्ताओं की खास पसंदगियों के कारण। उपभोक्ता मांगता है ऐसी चीजें जो बड़ी, चमकीली, सुंदर तथा एक-सी आकार की हों। उनकी इसी इच्छा को पूरा करने के लिए वे कृषि-रसायन तेजी से उपयोग में लाए जाने लगे, जिनका अभी कुछ बरसों पहले तक कोई उपयोग नहीं होता था।

आखिर हम इस दुर्गति के भागी कैसे बन गए? लोग तो कहते हैं कि उन्हें इस बात से कोई मतलब नहीं कि खीरे सीधे हैं या आड़े-टेढ़े, तथा कोई जरूरी नहीं कि फल बाहर से खूबसूरत नजर आए, लेकिन उपभोक्ताओं की पसंदों का असर कीमतों पर क्या पड़ता है, यह देखना हो तो जरा एक बार टोक्यो के थोक-बाजारों में झांक कर देख आईए। वहां जब भी फल देखने में जरा सा भी बेहतर नजर आता है, उसके भाव प्रति किलो 5 से दस प्रतिशत ज्यादा लगाए जाते हैं। जब भी फलों को 'छोटे-बड़े' या 'मंझोले' के रूप में वर्गीकृत किया जाता है, प्रति किलो भाव आकार-वर्ग के साथ दुगना या तिगुना तक बढ़ जाता है।

बे-मौसम पैदा किए गए खाद्य-पदार्थों के लिए ज्यादा पैसे देने के लिए उपभोक्ताओं की तत्परता का भी कृत्रिम कृषि विधियों तथा रसायनों की प्रवृत्ति बढ़ाने में खासा योगदान रहा है। पिछले बरस गर्मियों

में, उष्ण–गृहों में पकाए गए 'उन शू' प्रजाति के मेंडेरिन संतरों के भाव बाजार में मौसमी संतरों की अपेक्षा दस से बीस गुना ज्यादा रहे। इन बे–मौसम उगाए फलों की सामान्यत: एक–डेढ़ रुपए किलो की कीमत के बदले, लोगों ने 25 से 60 रु किलो तक चुकाए। अत: यदि आप उपकरण एवं आवश्यक ईंधन जुटाने पर हजारों रुपए लगाने तथा अतिरिक्त समय तक काम करने को तैयार हो जाए तो आपको ढेर सा मुनाफा निश्चय ही होगा।

बे–मौसम की फसलें लेना हर जगह लोकप्रिय होता जा रहा है। मौसम से एक महीने पहले ही संतरे चखने के लिए शहरों में लोग खुशी–खुशी किसानों को अतिरिक्त श्रम और उपकरणों की लागत चुका देते हैं। मगर यदि आप पूछें कि संतरे मौसम से एक महीने पहले मिलना इंसान के लिए कितना महत्वपूर्ण है, तो मैं कहूंगा कि वह बिल्कुल ही जरूरी नहीं है, और इस फिजूलखर्ची की कीमत वह सिर्फ पैसे के रूप में ही नहीं चुकाता है। संतरों का रंग अच्छा हो इसके लिए भी कृत्रिम रसायनों का उपयोग होने लगा है। इस रसायन के कारण फल पर एक सप्ताह पूर्व ही बढ़िया रंग आ जाता है। दस अक्टूबर के एक सप्ताह पूर्व या बाद संतरे पर पूरी तरह रंग आने से उसके अभाव में, चूंकि दो–गुने का अंतर आ जाता है, किसान की कोशिश रहती है कि वह रंग लाने वाले रसायन का उपयोग करे, पेड़ों से तोड़ने के बाद उसे गैस–कक्ष में रख, जल्दी पका ले।

लेकिन, वक्त से पहले बाजार में लाए जाने वाले इस फल में चूंकि मिठास कम होता है, वह उसमें कृत्रिम रसायनों द्वारा मिठास लाता है। लोगों की धारणा है कि कृत्रिम मिठास लानेवाले रसायनों का प्रयोग वर्जित है, लेकिन नारंगी के पेड़ों पर इन रसायनों का छिड़काव स्पष्ट रूप से गैर–कानूनी नहीं घोषित किया गया है। सवाल यह है कि फलों में मिठास लानेवाले ये रसायन 'कृषि–रसायनों' की श्रेणी में आते हैं या नहीं। वह जो भी हो, लगभग हर कोई आज उनका उपयोग कर रहा है।

इसके बाद इन फलों को सहकारी फल–भंडारण केंद्रों पर लाया जाता है। बड़े आकार के फलों को छोटों से अलग छांटने के लिए प्रत्येक फल को घूमते पट्टे पर कई मीटर दूरी तक लुढ़काया जाता है। इससे कई फल टूट–फूट जाते हैं। छंटाई–केंद्र जितना बड़ा होता है, उतना ही ज्यादा फलों को लुढ़काया – उछाला जाता है। पानी से धोने के बाद मेंडेरिन संतरों पर रंग तथा संरक्षक रसायन छिड़के जाते हैं। अंत में, आखिरी स्पर्श देने के रूप में उन्हें पैराफिन (मोम) के घोल से चमका दिया जाता है। आजकल फलों को भी कारखानों में घिस कर निकालना पड़ता है।

ये सारे झंझट इसलिए नहीं किए जाते कि किसान इस ढंग से काम करना पसंद करता है या कृषि मंत्रालय के अधिकारियों को किसानों से यह अतिरिक्त मेहनत करवाने में मजा आता है। लेकिन यह सिलसिला तक तक नहीं टूटेगा, जब तक कि हमारे मूल्यबोध में ही बुनियादी अंतर न आ जाए।

आज से चालीस बरस पूर्व जब मैं योकोहामा कस्टम कार्यालय में था, तब नींबू तथा संतरों का इसी ढंग से रखरखाव होता था। मैं यही प्रणाली जापान में लागू किए जाने का विरोधी था, लेकिन मेरे शब्दों का कोई असर नहीं हुआ, और आज उसे हमारे यहां भी अपना लिया गया है।

यदि कोई फार्म–गृह या सहकारी समिति मेंडेरिन संतरों को पॉलिश करने जैसी नई प्रक्रियाओं को अपनाती है तो अतिरिक्त देखभाल और साज–संभाल के कारण मुनाफा बढ़ जाता है। इसे देख, इसकी

नकल अन्य समितियां भी करती हैं। जिन फलों को इस नई प्रक्रिया से संवारा नहीं जाता, उनके भाव, बाजार में अच्छे नहीं मिलते। दो-तीन बरसों में संतरों को पॉलिश करने की रीति सारे देश में फैल जाती है। प्रतियोगिता बढ़ने से मूल्य गिरते हैं, और किसान के पास अतिरिक्त कठोर परिश्रम करने के अलावा और कोई चारा नहीं बचता। निवेशों और उपकरणों ने उसकी लागतें तो बढ़ा दी थीं, अब वह मोम के संतरों को पॉलिश करने को भी बाध्य है, भले ही इससे उसका मुनाफा बढ़ता हो या नहीं।

बेशक, इसके फलस्वरूप उपभोक्ता को भी नुकसान होता है। जो फल ताजे नहीं होते वे भी बिक जाते हैं, क्योंकि वे ताजे दिखलाई देते हैं। यदि जैव-वैज्ञानिक भाषा में बतलाए तो तनिक झुर्रियां पड़ा फल अपनी ऊर्जा-उपभोग तथा श्वसन-क्षमता यथासंभव निम्नतर स्तर पर बनाए रखता है। इसकी तुलना किसी ध्यान में लगे व्यक्ति से की जा सकती है। उसकी हालत में उसका मेटाबेलिज्म, श्वास प्रक्रिया तथा कैलोरी-उपभोग निम्न स्तर पर पहुंच जाता है। यदि वह ऐसी दशा में उपवास करे, तो भी उसके शरीर में निहित ऊर्जा बची रहती है। इसी तरह जब मेंडेरिन संतरें झुर्रियां पड़े हुए उगते हैं, जब फल और सब्जियां मुरझाई नजर आती हैं, तब भी वे एक ऐसी स्थिति में होती है जो उनकी खाद्य गुणवत्ता को अधिकतक समय तक बचाए रखती है।

जिस तरह सब्जी बेचने वाले बार-बार पानी छिड़क कर फलों-सब्जियों की ताजगी बनाए रखने की कोशिश करते हैं, उससे कोई फायदा नहीं होता। क्योंकि उसके द्वारा सिर्फ उनका बाहरी रूप ही ताजा नजर आने लगता है। इस क्रिया से उनके ताजा दिखने के बावजूद उनके स्वाद, खुशबू और पोषक तत्वों का खात्मा होने लगता है।

कुल मिलाकर, सारी सहकारी समितियों और सामुदायिक छंटनी केंद्रों का एकीकरण और विस्तार इसी तरह की गैर-जरूरी क्रियाएं चलाए रखने के लिए ही किया गया है। इसी को लोग 'आधुनिकीकरण' कहते हैं कि फसल को बढ़िया पैक कर विराट 'डिलेवरी प्रणाली' पर सवार कर उपभोक्ता तक पहुंचा दिया जाए।

थोड़े में कहें तो, जब तक हम अपने उस मूल्य-बोध को नहीं बदलेंगे, जिसके चलते हम गुणवत्ता के बदले वस्तुओं के रूपरंग तथा आकार-प्रकार को ज्यादा महत्व देते हैं, तब तक खाद्य प्रदूषण की समस्या हल नहीं हो सकती।

20

प्राकृतिक खाद्यों के बेंचने की समस्या

पिछले कई बरसों से मैं देश के विभिन्न भागों में स्थित प्राकृतिक खाद्यों के स्टोरों को 250 से 300 किलो चावल भेजता रहा हूं। मैंने मेंडेरिन संतरों के 15 किलो के 400 बक्से भी ट्रकों में भरकर टोकियो के सुगीनामी जिले की सहकारी समिति को भेजे हैं। इस समिति में अध्यक्ष, चूंकि प्रदूषण-मुक्त उत्पाद बेंचना चाहते थे। यह व्यवस्था हम दोनों के बीच हुई।

पहले साल तो काफी ठीक धंधा चला, लेकिन कुछ शिकायतें भी मिलीं। फलों के आकारों में बहुत

ज्यादा अंतर था, उनका बाहरी रूप-रंग भी देखने में बहुत अच्छा नहीं था, और छिलके पर झुर्रियां पड़ी हुई थी आदि। मैंने फलों को सादे बक्सों में भरकर ही भेजा था, इससे कुछ लोगों को लगा कि वे फल सेकंड क्वालिटी (दूसरे-दर्जे) के थे। अब मैं फलों को उन बक्सों में रखकर भेजता हूं, जिन पर लिखा होता है 'प्राकृतिक मेंडेरिन'।

चूंकि प्राकृतिक खाद्य कम-से-कम खर्च और मेहनत से उगाए जाते हैं, मेरा तर्क यह था कि वे न्यूनतम कीमत पर बेंचे जाने चाहिए। गत वर्ष टोकियो के इलाके में मेरे फल सबसे कम कीमत पर बेंचे गए। कुछ दुकानदारों के अनुसार स्वाद व खुशबू में तो वे सबसे बढ़िया थे। इससे भी अच्छा यह हो सकता है, कि फलों को स्थानीय रूप से बेंचा जाए ताकि, उनकी ढुलाई के खर्च और समय दोनों की बचत हो सके। फिर भी उक्त फलों की कीमत भी वाजिब थी, उनमें कोई रसायन नहीं थे और उनका स्वाद भी अच्छा था। इस वर्ष मुझ से कहा गया कि मैं गत-वर्ष से दो-तीन गुना ज्यादा माल भेजूं।

यहां यह सवाल खड़ा होता है कि प्राकृतिक खाद्य का सीधी बिक्री को किस सीमा तक बढ़ाया जा सकता है। इस मामले में मुझ एक बात से कुछ उम्मीद बंधती है। इधर कुछ समय से रासायनिक फल बेंचने वाले आर्थिक कठिनाईयां महसूस कर रहे हैं। उनके लाभ का मार्जिन घटा है, उनके लिए प्राकृतिक खाद्य उगाना पहले से ज्यादा आकर्षक हो गया है, औसत किसान रसायन, रंग, पॉलिश आदि पर कितनी ही मेहनत क्यों न करे, उसे अपने फल जिस कीमत पर बेंचने पड़ते हैं, उससे बड़ी मुश्किल से लागत भर वसूल हो पाती है। इस वर्ष हालत यह हुई है कि बहुत ही बढ़िया फल देनेवाले फार्म पर भी प्रति किलो बहुत मुश्किल 2-3 रुपए ही मुनाफा होने की उम्मीद की जा रही है। थोड़ी सी भी घटिया क्वालिटी के फल उगानेवाले किसान को तो शायद कोई मुनाफा नहीं हो पाएगा।

चूंकि पिछले कुछ बरसों में कीमतें गिरी हैं, कृषि सहकारी-समितियां तथा छंटाई केंद्र बहुत ही सख्त हो गए हैं और वे केवल वही फल पसंद कर रहे हैं, जिनकी क्वालिटी सर्वश्रेष्ठ होती है। जरा भी घटिया फल छंटाई केंद्रों को नहीं बेचे जा सकते। मेंडेरिन संतरों की फसल काटने से पहले खेत में दिन भर का श्रम फिर उन्हें बक्सों में भरना और छंटाई केंद्रों तक ले जाना आदि के लिए किसान को रात 11-12 बजे तक काम से भिड़े रहना पड़ता है। उसे एक-एक कर अच्छे, बड़े आकार के फल छांट कर अलग रखने पड़ते हैं (नापसंद किए गए फल आधी कीमत पर उनका रस निकालने के लिए एक निजी कंपनी को बेंच दिए जाते हैं।)

कई बार कुल फसल में से केवल 25 से 50 प्रतिशत फल ही 'अच्छे' निकल पाते हैं और इनमें से भी कुछ को सहकारी समिति खारिज कर देती है। इसके बाद यदि मुनाफा प्रति किलो एक-दो रुपए हो जाता है तो किसान उसे काफी ठीक मानता है। बेचारा, संतरे उगानेवाला किसान - इन दिनों मेहनत तो खूब कर रहा है मगर इसके बावजूद उसकी लागत भी मुश्किल से निकल पाती है।

चूंकि, बगैर रसायन या उर्वरक इस्तेमाल किए, या बिना मिट्टी को संवारे फल उगाने से खर्चा कम बैठता है, किसान को शुद्ध मुनाफा ज्यादा होता है। मैं जो फल बाजार में भेजता हूं उन्हें लगभग बिल्कुल नहीं छांटा जाता है। मैं बस फलों को बक्से में भरता हूं, बक्से बाजार में रवाना करता हूं और रात को जल्दी से सोने चला जाता हूं।

मेरे आस-पड़ोस के किसान यह महसूस कर रहे हैं कि वे मेहनत तो खूब कर रहे हैं, लेकिन उनकी जेबों में बचत कुछ भी नहीं है। यह भावना बल पकड़ रही है कि प्राकृतिक खाद्य को स्थानीय स्तर पर बेंचने की व्यवस्था नहीं की जाती, सामान्य किसान तो इस चिंता से मुक्त नहीं हो पाएंगे कि वे अपनी पैदावार आखिर कहां बेचें।

जहां तक उपभोक्ता का सवाल है, यह धारणा आम रही है कि प्राकृतिक खाद्य मंहगा होता है, यदि वह मंहगा नहीं होता तो लोगों को शंका होने लगती है कि वह प्राकृतिक है भी या नहीं। एक खुदरा व्यापारी ने मुझे बताया कि प्राकृतिक पैदावार जब तक मंहगी न बेची जाए उसे कोई नहीं खरीदता।

मैं अब भी मानता हूं कि प्राकृतिक खाद्यों को अन्य की अपेक्षा सस्ता बेचा जाना चाहिए। कई वर्ष पहले टोक्यो के एक प्राकृतिक खाद्य बेचनेवाले स्टोर ने मुझसे संतरों के बगानों से एकत्र किया शहद तथा पहाड़ी मुर्गियों द्वारा दिए अंडे भेजने को कहा था। जब मुझे पता चला कि वह व्यापारी उन्हें बहुत मंहगे दामों पर बेंच रहा है, तो मुझे बहुत गुस्सा आया। मैंने सोचा कि जो व्यापारी अपने ग्राहकों से इस तरह नाजायज फायदा उठा रहा है, वह जरूर मेरे चावलों में अन्य चावलों की मिलावट करके ग्राहकों को गलत दामों पर बेंचेगा। मैंने तत्काल उस स्टोर को माल भेजना बंद कर दिया।

यदि प्राकृतिक खाद्यों को व्यापक रूप से लोकप्रिय बनाना है तो उन्हें वाजिब भाव पर स्थानिक रूप से उपलब्ध करवाना होगा। यदि उपभोक्ता सिर्फ इस विचार को गले उतार लें कि - कम कीमत का अर्थ यह नहीं कि वे खाद्य प्राकृतिक नहीं है, तो सभी लोग सही दिशा में सोचना शुरू कर देंगें।

21

व्यापारी कृषि असफल ही होगी

व्यापारी कृषि की अवधारणा जब पहली बार सामने आई तभी मैंने उसका विरोध किया था। जापान में व्यापारिक कृषि किसानों के लिए फायदे मंद नहीं है। व्यापारियों का कायदा यह है कि जब भी कोई वस्तु बेची जानी होती है तो उसकी मूल लागत जो भी हो, वे उसकी लागत बढ़ा कर ही उसे बेचते हैं। लेकिन जापानी खेती का यह मामला इतना सीधा नहीं है। उर्वरक, खाद, उपकरण तथा रसायन उस कीमत पर खरीदे जाते हैं जसे बाहर निर्धारित होती है तथा यह बतलाने का कोई तरीका नहीं होता कि इन आयातित उत्पादों का उपयोग करने के बाद वास्तविक लागत क्या बैठेगी? यह सब पूरी तरह व्यापारियों पर निर्भर करता है तथा बिक्री मूल्य भी चूंकि तय किया हुआ रहता है। किसान की आय उन ताकतों की मेहरबानी पर निर्भर हो जाती है, जिन पर उसका कोई नियंत्रण नहीं होता।

सामान्य रूप से व्यापारिक कृषि एक अस्थिर चीज है। किसान की स्थिति तो उसके बगैर ही बेहतर होगी यानी उसे अपनी जरूरत का खाद्यान्न पैसा बनाने के बारे में सोचे बगैर ही पैदा करना चाहिए। यदि आप चावल का एक बीज बोते हैं तो वह एक हजार से भी ज्यादा दाने देता है। शलजम की एक ही कतार बोने से इतना अचार बन जाता है जो पूरे जाड़े भर के लिए काफी होता है। अगर आप इस ढंग से सोचकर चलें तो आपको खाने के लिए पर्याप्त, बल्कि उससे ज्यादा ही मिल जाएगा और उसके लिए ज्यादा संघर्ष भी नहीं करना पड़ेगा। मगर यदि आप इसके बदले कुछ पैसा बनाने की कोशिश करते हैं तो

आप उस मुनाफा गाड़ी पर सवार हो जाते हैं, जो पता नहीं आपको कहां ले जाएगी।

इधर कुछ दिनों से मैं सफेद लेग-मुर्गियों के बारे में सोच रहा हूं क्योंकि इनकी सुधरी हुई नस्ल, चूंकि साल में 200 दिन अंडे देती है, इनको पालना मुनाफे का धंधा मालूम होता है। जब इन मुर्गियों का पालन व्यापारिक ढंग से किया जाता है तो उन्हें ऐसे छोटे-छोटे दड़बों में रखा जाता है जो जेल की काल कोठरियों की याद दिलाते हैं तथा इन प्राणियों को अपने सारे जीवन काल में जमीन पर अपने पैर रखने का मौका एक बार भी नहीं मिलता। उन्हें अक्सर बीमारियां लगी रहती हैं और उनके शरीरों में ढेर सी जीवाणु प्रतिरोधी तथा विटामिन तथा हारमोनयुक्त दवाएं ढूंसी जाती हैं।

यह भी कहा जाता है कि आदि काल से 'शामों' तथा 'चाबो' मुर्गियों के जो देसी भूरी तथा सांवली किस्में पाली जाती रही हैं, उनके अंडे देने की क्षमता लेग-हॉर्न से केवल आधी होती है। इसका नतीजा यह हुआ कि ये पक्षी अब जापान में लुप्त हो गए हैं। मैंने अपने इलाके में दो मुर्गियों तथा एक मुर्गे को खुला छोड़ दिया और एक वर्ष के भीतर ही उनकी संख्या चौबीस हो गई। जब ऐसा लगा कि कुछ ही अंडे पैदा हो रहे हैं तो स्थानीय लोग भी लेग-हॉर्न मुर्गियां पालने में लग गए।

पहले साल में लेग-हॉर्न की अंडे देने की क्षमता स्थानीय नस्ल की मुर्गियों से ज्यादा होती है, लेकिन एक वर्ष के बाद वे चूक जाती हैं, और उन्हें एक तरफ कर दिया जाता है। जब कि जिस 'शामो' मुर्गी से हमने शुरुआत की थी, उससे दस स्वस्थ पक्षी पैदा होकर बागान के वृक्षों के बीच फुदक रहे हैं। इसके अलावा सफेद लेग-हॉर्न ज्यादा अंडे इसलिए देती हैं क्योंकि उन्हें कृत्रिम रूप से समृद्ध किया गया आहार दिया जाता है जो विदेशों से आयात किया जाता है, तथा जिसे व्यापारियों से ही खरीदा जा सकता है जब कि स्थानीय पक्षी बेचारे यहां-वहां चोंच मार कर बीज तथा कीड़े खाते हैं और स्वादिष्ट प्राकृतिक अंडे देते हैं।

यदि आप सोचते हैं कि व्यापारिक फसलें भी प्रकृति की देन हैं तो आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि वे अंडे न देकर मात्र नाईट्रोजन, फास्फोरस का मिला-जुला पनीला कपट जाल है जिन्हें थोड़ी सी मदद बीज से भी मिल जाती है, और उनका स्वाद भी उससे ज्यादा और कुछ नहीं होता। इसी तरह व्यापारिक अंडे (यदि आप उनके लिए इस शब्द का उपयोग करते हैं तो) भी केवल कृत्रिम दाने, रसायनों तथा हारमोनों के मिश्रण से ज्यादा कुछ नहीं है। वह प्रकृति का उत्पाद न होकर मात्र मानव निर्मित ऐसा कृत्रिम पदार्थ है, जिनका सिर्फ आकार अंडे जैसा होता है। जो किसान ऐसी सब्जियां या अंडे उगाता है उसे मैं किसान की बजाए, निर्माता कहना पसंद करता हूं।

अब, यदि आप निर्माण की बात कर रहे हैं तो मुनाफा कमाने के लिए आपको आंकड़ों की कुछ जोड़-तोड़ करनी ही पड़ेगी। चूंकि व्यापारिक किसान कोई पैसा नहीं बना पाता, वह उस व्यापारी की तरह है जो गिनना तक नहीं जानता। इस तरह के आदमी को अन्य लोग मूर्ख ही समझेंगे तथा उसके मुनाफे को राजनीतिज्ञ या विक्रेतागण चट कर जाएंगे।

पुराने जमाने में केवल चार तरह के लोग होते थे। योद्धा, किसान, कारीगर तथा व्यापारी। किसान को 'ईश्वर का कलशधारी' कहा जाता था क्योंकि वो व्यापारी या निर्माता की बजाए चीजों के स्रोत के सबसे

नजदीक होता था। वह किसी-न-किसी तरह निर्वाह कर भी लेता था, और खाने की कम-से-कम उसे कोई कमी नहीं होती थी।

मगर आज तो हर तरफ पैसा बनाने का भगदड़ मची हुई है। अंगूर, टमाटर तथा तरबूजों की अत्याधुनिक फैशनेबिल किस्में उगाई जा रही हैं। ग्रीन-हाऊसों में बे-मौसम फल-फूल उगाए जा रहे हैं। मत्स्य प्रजनन की शुरुआत हो गई है, और मवेशी भी मुनाफा कमाने के लिए पाले जा रहे हैं।

यह सिलसिला बतलाता है कि जब किसान आर्थिक झूले पर सवार हो तो क्या होगा? कीमतों में उतार-चढ़ाव आते हैं, मुनाफा होता है तो घाटा भी होता है।

असफलताओं को आप टाल नहीं पाते। जापान की खेती अपने रास्ते से भटक कर पूरी तरह भ्रष्ट हो गई है। वह खेती के बुनियादी सिद्धांतों को त्याग कर धंधा बन गई है।

22

अनुसंधान, मगर किसके फायदे के लिए?

जब मैंने पहले चावल तथा जाड़े के अनाज को सीधे बोना शुरू किया था तो फसल को हंसिए से काटने के लिहाज से मुझे बीजों को सीधी कतारों में बोना सुविधाजनक लगा। कई कोशिशों के बाद एक नौसिखिए की तरह जोड़-तोड़कर मैंने एक हस्तनिर्मित बुआई उपकरण बनाया। यह सोचकर कि यह औजार अन्य किसानों के लिए फायदे का हो सकता है, मैं उसे परीक्षण केंद्र के आदमी के पास ले आया। उसने मुझसे कहा कि चूंकि हम इस समय बड़ी-बड़ी मशीनों के युग में रह रहे हैं, वह इस तरह के 'हाथ से बने' औजार को लेकर अपना वक्त बरबाद नहीं करेगा।

इसके बाद मैं एक कृषि उपकरण निर्माता के पास गया। यहां मुझे बताया गया कि इस तरह की सरल मशीन चाहे कितनी भी उपयोगी क्यों न हो सौ-रुपए से ज्यादा में नहीं बेची जा सकती है, 'यदि हम इस तरह की टुटपूंजी चीजें बनाने लगे तो किसान सोचेंगे कि हजारों डालर मूल्य के जो ट्रैक्टर हम लोग बनाकर बेंच रहे हैं, उनकी कोई जरूरत ही नहीं है।' उसने कहा कि आजकल चलन यह है कि चावल रोपने की मशीनें फटाफट बनाकर, जब तक संभव हो बेची जाएं और फिर थोड़े समय बाद कोई नई मशीन का आविष्कार कर उसे बेचना शुरू कर दिया जाए। मेरी तरकीब तो उन्हें दो कदम पीछे ले जानेवाली लगी। युग की मांग को पूरा करने की नियत से हमारे संसाधन बेकार के अनुसंधानों को बढ़ावा देने डटे हैं, और मेरे बनाए उपकरण का पेटेंट अब तक ताक पर रखा हुआ है।

यही चीज उर्वरकों और रसायनों के मामले में भी रही है। बजाए किसान की जरूरतों को दिमाग में रखते हुए, उर्वरकों का विकास और अन्य चीजों के उपयोग करने पर जोर दिया जाता है। पैसा बनाने के लिए लोग कुछ भी बनाकर बेंच रहे हैं। परीक्षण केंद्रों की अपनी नौकरियां छोड़ने के बाद तकनीशियन बड़ी-बड़ी रसायन कंपनियों में काम करने लग जाते हैं।

हाल ही में मैं कृषि तथा वानिकी मंत्रालय के एक अधिकारी से बात कर रहा था। उसने मुझे एक मजेदार किस्सा सुनाया। ग्रीन-हाऊसों में उगाई गई सब्जियां बहुत ही बेस्वाद होती हैं। यह सुनकर की

सर्दियों में उगाए बैंगनों में कोई विटामिन नहीं थे तथा खीरे में कोई खुशबू नहीं थी। उसने इस पर शोध किया और उसे इसका कारण पता चल गया। सूर्य की कुछ खास किरणें उन शीशे और प्लास्टिक के घरों में प्रवेश नहीं कर पाती थीं। जहां इन्हें उगाया जा रहा था वहां से उसका अनुसंधान ग्रीन-हाऊसों में प्रकाश व्यवस्था की ओर बढ़ गया।

यहां बुनियादी प्रश्न यह है कि इंसान को सर्दियों के मौसम में खीरे और बैंगन खाना चाहिए या नहीं। लेकिन इस मुद्दे को परे सरका कर - इन्हें सर्दियों में उगाने का एक मात्र कारण यह है कि उस समय उन्हें ऊंची कीमत पर बेचा जा सकता है। हम में से कोई इन्हें बे-मौसम में उगाने का तरीका खोज लेता है और फिर कुछ समय बीतने के बाद पता चलता है कि उन सब्जियों में कोई पोषक तत्व ही नहीं हैं। इस पर तकनीशियन सोचते हैं कि यदि पोषक तत्वों को नुकसान हो रहा है, तो इस बात को रोकने का कोई तरीका सोचना चाहिए। चूंकि यह समझा गया कि दिक्कत प्रकाश-व्यवस्था के कारण आ रही है, वह प्रकाश किरणों पर शोध करना शुरू कर देता है। वह सोचता है कि यदि उसने विटामिनयुक्त बैंगन ग्रीन-हाऊस में उगा लिया तो सब ठीक हो जाएगा। मुझे बतलाया गया है कि ऐसे भी कुछ तकनीशियन हैं जिन्होंने अपनी पूरी जिंदगी इसी तरह के अनुसंधान पर खपा दी।

स्वाभाविक है, चूंकि इस तरह के बैंगन उगाने पर जब इतने संसाधन और मेहनत खर्च होंगे, और उस सब्जी में पोषक तत्व भी बहुत होना बतलाया जाएगा, तो उन्हें बहत मंहगे दामों पर ही बेचा जाएगा। कुल मिलाकर निष्कर्ष यही निकलता है। यदि इसमें मुनाफा है, और आप उन्हें बेंच पाते हैं तो इसमें गलत कुछ भी नहीं हो सकता।

लोग कितनी ही कोशिश कर लें, वे प्राकृतिक रूप से उगाए गए फल-सब्जियों में कोई सुधार, कृत्रिम तरीकों से नहीं कर सकते। कृत्रिम ढंग से उगाई गई चीजें लोगों की क्षणिक तृष्णा को भले ही संतुष्ट कर दे, अंततः वह मानव शरीर को कमजोर बनाकर उसकी रासायनिक प्रणाली को ही बदल देती हैं कि वह ऐसे ही खाद्यों पर आश्रित हो जाती है। जब ऐसा हो जाता है तो दवाएं और विटामिन पूरक लेना जरूरी हो जाता है। यह स्थिति किसानों के लिए मुश्किल तथा उपभोक्ताओं के लिए तकलीफों का ही कारण बनती है।

23

आखिर क्या है मानव - खाद्य

अभी कुछ दिन पहले किसी टेलिविजन कंपनी से आए एक व्यक्ति ने मुझसे प्राकृतिक खाद्य के जायके के बारे में कुछ कहने को कहा। हम लोगों की बातचीत के दौरान मैंने उससे कहा कि वह बाग में स्वतंत्र विचरण करती हुई मुर्गियों द्वारा दिए गए अंडे तथा पहाड़ी के नीचे कुक्कट-गृहों में पली मुर्गियों के अंडों की तुलना करके देखे। उसने पाया कि उस कुक्कट-गृहों में पली मुर्गियों के अंडों की जर्दी नरम पर पनीली थी तथा उसका रंग बीमार सा पीला था। इसके विपरीत पहाड़ी पर उन्मुक्त रह रही मुर्गियों के अंडों की जर्दी ठोस, चमकीली नारंगी रंग की थी। जब शहर में किसी रेस्त्रां चलानेवाल एक बुजुर्ग ने ये प्राकृतिक अंडे चखे तो उसे कहना पड़ा, 'यह है असली अंडा।' पुराने दिनों की तरह, और ऐसा खुश

हुआ जैसे उसे कोई खजाना मिल गया हो।

उधर ऊपर संतरों के बाग में, मेथी और खरपतवार के बीच कई तरह की सब्जियां उग रही हैं। शलजम, खीरे, कुम्हड़े मटर, गाजर, खाने वाली गुलदावदी, आलू, कई किस्मों की फलियां और जड़ी-बूटियां सब एक-साथ उग रही हैं। बातचीत इस सवाल की तरफ भी मुड़ी कि अर्ध-जंगली ढंग से उगाई गई सब्जियों का स्वाद और खुशबू घरों या खेतों में रासायनिक उर्वरकों की मदद से उगाई गई सब्जियों से बेहतर है या नहीं। जब हमने दोनों की तुलना की तो दोनों के स्वाद बिल्कुल अलग थे तथा हमने यह भी पाया कि 'जंगली' ढंग से उगी सब्जियों का जायका बेहतर था।

मैंने उस संवाददाता को बतलाया कि तैयार किए गए खेत में सब्जियां रासायनिक उर्वरकों, नाइट्रोजन, फासफोरस तथा पोटाश देकर उगाई जाती हैं। लेकिन जब सब्जियां जैव-पदार्थों के स्वाभाविक रूप से समृद्ध मिट्टी में प्राकृतिक भू-आवरण के बीच, उगाई जाती हैं तो उन्हें पोषक तत्वों की ज्यादा संतुलित खुराक मिलती है। किस्म-किस्म की खरपतवार तथा घासों का मतलब यह होता है कि सब्जियों को विविध प्रकार के आवश्यक तथा सूक्ष्म पोषक तत्व उपलब्ध हैं। इस तरह की संतुलित मिट्टी में उगनेवाले पौधों में कुछ अलग ही स्वाद और खुशबू आ जाती है।

खाने वाली जड़ियों, वन्य सब्जियां और पर्वतों एवं वादियों में उगनेवाले पौधों में पोषक तत्वों की मात्रा तो अधिक होती है। वे औषधी के रूप में भी उपयोगी होते हैं। भोजन और दवा कोई दो भिन्न चीजें नहीं होती। वे एक ही शरीर का अगला और पिछला भाग होती हैं। रसायनों द्वारा उगाई गई सब्जियां भोजन के रूप में तो खाई जा सकती हैं, लेकिन दवाओं के रूप में उनका उपयोग नहीं हो सकता।

जब आप वसंत ऋतु की सात जड़ियां एकत्र कर खाते हैं तो आपकी प्रकृति में सौम्यता आ जाती है। और जब आप ब्रेकन की फुनगियां, मूली तथा ऑस्मंड का सेवन करते हैं तो आपकी आत्मा शांत हो जाती है। बेचैनी और बेसब्रपन को पूरा करने के लिए मूली सबसे अच्छी होती है। लोग कहते हैं कि यदि बच्चे मूली, चीड़ की कलियां या पेड़ों पर रहनेवाले कीड़ें खाएं तो उन्हें चीख-चीख कर रोने के जो दौरे पड़ते हैं वे नहीं पड़ेंगे। पुराने जमाने में तो बच्चों को ये चीजें जबरन खिलाई जाती थीं। जापानी मूली 'दाईकॉन' का पूर्वज पौधा 'नाजूना' (मूली) ही है तथा 'नाजूना' का संबंध 'नोगोमू' शब्द से है जिसका मतलब होता है नरम बना हुआ। दाईकान वह जड़ी है जो हमारे स्वभाव में नरमी लाती है।

जंगली खाद्यों में कीटों को अक्सर नजरअंदाज कर दिया जाता है। युद्ध-काल में जब मैं परीक्षण केंद्र में काम कर रहा था, तब मुझे यह तय करने का काम सौंपा गया था कि, दक्षिण पूर्व एशिया के किन कीटों को खाया जा सकता है। जब मैंने जांच-पड़ताल की तो यह जानकर मैं चकित रह गया कि लगभग हर कीड़ा खाने योग्य होता है।

मसलन, कोई यह सोच भी नहीं सकता कि मक्खियों या जूंओ का भी कोई उपयोग हो सकता है। लेकिन जूंओ को पीसकर जाड़े क अनाज के साथ खाया जाए तो वह मिर्गी का इलाज बन जाता है। तथा मक्खियों से शीत-दंश (फ्रास्ट-बाइट) का इलाज हो जाता है। सभी कीड़ों की तितलियां खाने योग्य होती हैं, बशर्ते वे जिंदा हों। पुराने ग्रंथों को पढ़ते हुए मुझे उनमें ऐसी कहानियां मिलीं, जिनमें मेंगर कीड़ों से

बने व्यंजनों तथा रेशम के कीड़ों के नायाब स्वाद का जिक्र है। यहां तक कि पतंगों के परों पर से सफेद पाउडर को झाड़कर अलग कर दिया जाए तो वे भी बड़े स्वादिष्ट लगते हैं।

अतः स्वास्थ्य और स्वाद दोनों की दृष्टि से ऐसी कई चीजें, जिन्हें लोग घिनौनी समझते हैं, वास्तव में काफी स्वादिष्ट तथा मानव शरीर के लिए लाभदायक होती हैं।

वे सब्जियां, जिन्होंने अपने जंगली पूर्वजों से अपनी नजदीकी बनाए रखी है, पौष्टिकता और स्वाद की दृष्टि से सबसे अच्छी होती हैं। उदाहरण के लिए, लिलि परिवार (जिसमें नीरा, लहसुन, चीनी-लीक, हरा-प्याज तथा सामान्य प्याज शामिल है) की कई वनस्पतियों को पौष्टिक जड़ी-बूटी तथा टॉनिक के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। लेकिन अधिकांश लोगों को हरे तथा गोल प्याज की घरेलू किस्में ही सबसे स्वादिष्ट लगती हैं। किसी कारणवश आधुनिक लोगों को वही सब्जियां अच्छी लगती हैं, जो अपनी जंगली पूर्वजों से स्वाद के मामले में दूर चली गई हैं।

प्राणी खाद्यों के मामले में भी स्वाद पसंदगियां कुछ ऐसी ही हो गई हैं। वन्य पक्षी, शरीर के लिए पालतू बत्तखें या मुर्गियों से ज्यादा मुफीद होते हैं। लेकिन अपने कुदरती घरों से अलग कृत्रिम वातावरण में पाले गए यही पक्षी स्वाद में बेहतर माने जाते हैं, और बाजार में ऊंची कीमतों पर बिकते हैं। बकरी का दूध, गाय के दूध की अपेक्षा ज्यादा पौष्टिक होता है। लेकिन ज्यादा मांग गाय के दूध की ही है।

जो खाद्य उनकी वन्य स्थिति से हट गए हैं तथा जिन्हें रसायनों की मदद से पूरी तरह कृत्रिम वातावरण में पैदा किया जाता है, वे शरीर की रासायनिक प्रक्रिया को असंतुलित करते हैं। शरीर जितना ज्यादा असंतुलित होता जाता है, अप्राकृतिक खाद्यों की चाह उतनी ही ज्यादा बढ़ती जाती है। आगे चलकर यह स्थिति स्वास्थ्य के लिए खतरनाक बन जाती है।

यह कहना कि आदमी क्या खाता है, यह सिर्फ उसकी पसंद का मामला है, बिल्कुल ही गलत धारणा है क्योंकि अप्राकृतिक या अनहोना आहार किसानों और मछुआरों दोनों की मुश्किलें बढ़ाता है। मेरे विचार से तो आदमी की इच्छाएं जितनी ज्यादा होंगी, उन्हें संतुष्ट करने के लिए उतना ही ज्यादा काम करना होगा। ट्यूना या येला-टेल मछलियों को पकड़ने के लिए मछुआरों को जहां समुद्र में बहुत दूर गहरे पानी में जाना पड़ता है, वहीं सारडीन, सी-बीम, फ्लाउंडर या अन्य छोटी मछलियां काफी मात्रा में तटवर्ती समुद्रों में ही मिल जाती हैं। पौष्टिकता के हिसाब से भी खारे पानी की मछलियों की अपेक्षा नदियों और झरनों में पाए जाने वाले घोंघे, क्रे-फिश तथा कई किस्म के केकड़े आदि कहीं ज्यादा पौष्टिक होते हैं। इस लिहाज से इसके बाद नंबर आता है उथले समुद्र की मछलियों का तथा सबसे अंत में गहरे, खारे समुद्री पानी की मछलियों का। इंसानों के लिए सबसे अच्छा खाद्य वही होता है जो उसके आसपास ही मिलता हो। जिन खाद्यों के लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है वे उसके लिए सबसे कम फायदे मंद होते हैं।

यानी जो कुछ आसानी से उपलब्ध है, उसे ही स्वीकार करने से सब कुछ ठीक चलता है। यदि इस गांव में रहनेवाले किसान वही भोजन ग्रहण करते हैं जिसे यहां उगाया या एकत्र किया जा सकता है तो कोई गलती हो ही नहीं सकती। अंत में ऊपर पहाड़ी पर झोपड़ियों में रहनेवाले युवकों की तरह हर किसी को भूरा चावल, बिना पॉलिश किया जौ, बाजरा तथा कुटकी के साथ मौसमी तथा अर्ध-जंगली

पौधे व सब्जियां खाना आसान लगने लगेगा। ऐसा करते हुए हम सबसे अच्छा खाना खाते हैं। उसमें स्वाद भी होता है और वे हमारे शरीर को भी रास आता है।

यदि इन जैसे खेतों में चौथाई एकड़ भूमि पर 5-6 सौ किलो चावल तथा जाड़े का अनाज उगा लिया जाए तो उससे पांच से दस लोगों के परिवार का जीवन-यापन हो सकता है। और इसके लिए उन्हें प्रति दिन औसतन एक घंटे का श्रम करने से ही काम चल जाएगा। लेकिन यदि इन खेतों को चरागाह बना दिया जाए या अनाज मवेशियों को खिला दिया जाए तो प्रति चौथाई एकड़ के सहारे सिर्फ एक ही व्यक्ति रह सकता है। यदि मांस के निर्माण के लिए उस जमीन का उपयोग किया जाता है, जो इंसान के उपभोग के लिए सीधे खाद्य प्रदान कर सकती है, तो वह शाही खाना बनकर विलासिता की चीज बन जाती है। यह चीज स्पष्ट तथा निश्चित रूप से साबित हो गई है। हम में से हर व्यक्ति को इस बात पर गंभीरता से सोचना चाहिए कि इतनी मेहनत और खर्चे से पैदा किए गए खाद्यों का चटकारा लेकर हम उत्पादकों की मशक्कत कितनी बढ़ा देते हैं।

मांस तथा अन्य आयातित खाद्य विलासिता की चीजें इसलिए हैं कि उनके लिए स्थानीय रूप से पैदा की गई परम्परागत सब्जियों और अनाज के बजाए कहीं बहुत ज्यादा संसाधन और शक्ति खर्च की जाती है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि जो लोग अपने आपको सादी स्थानीय खुराक तक सीमित रखते हैं उन्हें उन लोगों की अपेक्षा काम कम करना पड़ता है तथा कम भूमि की जरूरत होती है, जिन्हें विलासिता पूर्ण खाद्य-पदार्थ की ललक होती है।

यदि जापान के लोगों ने मांस तथा आयातित खाद्य खाना जारी रखा तो यह तय है कि अगले दस वर्षों के भीतर ही देश में खाद्य संकट पैदा हो जाएगा। तीस साल के बाद देश में उसकी अपरिमित कमी हो जाएगी, पता नहीं कहां से लोगों में यह बेतुका विचार प्रवेश कर गया है कि चावल खाना बंद करके ब्रेड (डबलरोटी) खाना, जापान के लोगों की जीवन शैली में सुधार का प्रतीक है। वास्तव में ऐसी कोई बात नहीं है। लाल चावल और सब्जियां, शाही खाना भले ही न नजर आते हों, लेकिन पोषक तत्वों के हिसाब से वह बढ़िया आहार है, और वह मनुष्यों को सादगी तथा स्वतंत्रता से जीने योग्य बनाता है।

यदि हमारे देश में कभी खाद्य संकट पैदा हुआ तो उसका काण प्रकृति की उत्पादक शक्ति की अपर्याप्तता न होकर मानव की मनमानी इच्छाएं ही होगा।

24

जौ की खेती बंद मत कीजिए

दूसरे विश्व युद्ध के पूर्व अमेरिका और जापान के बीच बढ़ती हुई शत्रुता के कारण वहां से गेहूं का आयात करना असंभव हो गया था। सारे देश में गेहूं की खेती, जापान में ही करने का आंदोलन छिड़ गया। जिन अमेरिकी किस्मों के गेहूं का उपयोग किया जा रहा था उसके लिए बहुत लंबी अवधि का मौसम चाहिए होता था, और उसके पकते-पकते जापान में वर्षा ऋतु आ जाती थी। इसका नतीजा यह होता था कि, सारी मेहनत के बाद फसल काटते-काटते वह खेतों में ही सड़ जाती थी। गेहूं की ये किस्में, चूंकि बहुत ही गैर भरोसेमंद साबित हुयीं और उन्हें कई बीमारियां भी लग जाती थीं, किसान उन्हें

उगाना नहीं चाहते थे। इस गेहूं को पीसकर उस आटे को जब परम्परागत ढंग से सेंका जाता था तो उसका स्वाद इतना खराब हो जाता था कि उसे निगलना भी मुश्किल हो जाता था।

जापानी जौ और राई की परम्परागत किस्में, चूंकि बारिश के पहले मई में काट ली जाती हैं, वे तुलनात्मक रूप से कहीं ज्यादा सुरक्षित फसलें हैं। यह सब होने के बाद भी गेहूं की खेती किसानों पर थोपी गई। हर कोई गेहूं की खेती पर हंसता था और कहता था कि इससे बुरी और कोई चीज नहीं हो सकती, लेकिन सरकारी नीति होने के कारण वे धैर्य के साथ उसका पालन करते रहे।

युद्ध के बाद फिर से भारी मात्रा में गेहूं का आयात होने लगा और देश में उगाए गए गेहूं के भाव गिरने लगे। गेहूं की खेती न करने के कई अन्य कारणों में यह एक और जुड़ गया। देश के किसान नेताओं ने नारा बुलंद किया, 'गेहूं मत उगाओ, गेहूं का त्याग करो।' और किसानों ने गेहूं की खेती बंद कर दी। उसी समय आयातित गेहूं सस्ता होने के कारण, सरकार ने किसानों को जौ और राई उगाना बंद करने के लिए प्रोत्साहित किया। यह नीति भी क्रियान्वित हुई और जापान में खेत जाड़ों के मौसम में खाली पड़े रहने लगे।

आज से कोई दस बरस पहले मुझे एहाइम परिक्षेत्र की तरफ से एन एच के टेलिविजन द्वारा आयोजित 'वर्ष का सर्वश्रेष्ठ किसान' प्रतियोगिता में शामिल होने के लिए चुना गया। उस समय चयन-समिति के एक सदस्य ने मुझसे पूछ्ज्ञ, 'मिस्टर फुकूओका, आप जौ और राई की खेती बंद क्यों नहीं कर देते?,' मैंने उत्तर दिया, 'क्योंकि राई और जौ की फसलें उगाने में आसान होती हैं तथा उन्हें चावल के साथ बारी-बारी से बोकर हम जापानी खेतों से अधिकतम कॅलोरियां पैदा कर सकते हैं। इसकी खेती बंद न करने का यही कारण है।'

मुझे यह बतला दिया गया कि जो भी व्यक्ति कृषि-मंत्रालय की इच्छा के खिलाफ अड़ेगा उसे सर्वश्रेष्ठ किसान का सम्मान नहीं मिल सकेगा। इस पर मैंने कहा, 'यदि इस कारण से कोई पुरस्कार नहीं प्राप्त कर पाता तो मैं उसके बिना ही भला हूं।' चयन-समिति के एक सदस्य ने बाद में मुझसे कहा था, 'यदि मुझे कभी विश्वविद्यालय छोड़कर किसानी करनी पड़े तो शायद मैं आपके ढंग से ही खेती करूंगा और लड़ाई के पूर्व की तरह गर्मियों में चावल और सर्दियों में जौ और राई उगाऊंगा।'

इस घटना के कुछ समय बाद ही मैं एन एच के टेलिविजन के एक परिसंवाद जिसमें विश्वविद्यालयों के कई प्राध्यापक भी थे, में शामिल हुआ और तब भी मुझसे पूछा गया, 'आप जौ और राई उगाना बंद क्यों नहीं कर देते?' मैंने फिर कहा कि, ऐसा करने के यदि कोई दर्जन भर उचित कारण हों तो उनमें से एक के लिए भी मैं ऐसा नहीं करूंगा। उन दिनों जाड़े के अनाज की खेती बंद करने के लिए नारा दिया गया था: 'उनकी दया-मृत्यु' यानी इस खेती को शांति से मर जाने दिया जाए लकिन 'दया-मृत्यु' तो बहुत ही सौम्य शब्दावली है। कृषि मंत्रालय की तो इच्छा थी कि जौ और राई कुत्ते की मौत मरें। जब मुझे यह समझ में आ गया कि सरकार की योजना जाड़े के अनाज की खेती पर तुरंत लगाम लगाने की है तो मुझे बेहद दुख हुआ।

चालीस बरस पहले इन लोगों ने गेहूं जैसे एक विदेशी अनाज, एक बेकार तथा असंभव फसल को उगाने का आह्वान किया था। तब यह कहा गया था कि राई और जौ की जापानी किस्मों में अमेरिकी

गेहूं जैसे पौष्टिक तत्व नहीं हैं, और किसानों ने बड़े बेमन से इन परम्परागत अनाजों को उगाना बंद कर दिया। जैसे-जैसे रहन-सहन का स्तर छलांगे लगाते हुए बढ़ा, लोगों ने कहना शुरू किया, मांस खाओ, अंडे खाओ, दूध पियो और चावल खाना छोड़कर रोटी खाना शुरू कर दो। मक्का, सोयाबीन तथा गेहूं का आयात बढ़ता ही गया। चूंकि अमेरिकी गेहूं सस्ता था, देसी जौ और राई की खेती बिल्कुल त्याग दी गई। जापानी कृषि ने ऐसे तरीके अपनाए जिनके कारण किसानों को शहरों में जाकर छोटे-मोटे काम ढूंढने पड़े, ताकि वे फसले खरीद सकें, जिन्हें उगाने के लिए उन्हें मना किया गया था।

और अब खाद्य संसाधनों की कमी के बारे में नई चिंताएं खड़ी हो रही हैं। अब जौ और राई की खेती में आत्मनिर्भरता की फिर से हिमायत की जा रही है। कहा तो यहां तक जा रहा है कि किसानों को इनके लिए राज-सहायता तक प्राप्त होगी। लेकिन यही काफी नहीं है कि कुछ बरस तक जाड़े का अनाज उगा कर फिर उसे बंद कर दिया जाए। एक ठोस और सही कृषि-नीति बनाई जानी चाहिए मगर एक कायम रहने योग्य कृषि-नीति इसलिए नहीं बन पाती कि अव्वल तो कृषि मंत्रालय को यही नहीं पता कि उगाया क्या जाना चाहिए और इसलिए कि उसे यही नहीं समझ में आता कि, जो कुछ खेतों में उगाया जाता है उसमें और लोगों को खुराक में क्या संबंध है।

यदि कृषि-मंत्रालय के कर्मचारी पर्वतों और वादियों में जाएं और सात जड़ी-बूटियां वसंत की तथा सात बूटियां सर्दियों की एकत्रित करें और चखने का कष्ट भी उठाएं तो उन्हें पता चल जाएगा कि मानव के पोषण का स्रोत क्या है। यदि वे और ज्यादा पड़ताल करें तो वे देखेंगे कि हम बड़ी अच्छी तरह चावल, राई, जौ, कुटकी (कोदो) तथा सब्जियों जैसी परम्परागत देसी फसलों के सहारे जी सकते हैं, और वही वे यह भी तय कर पायेंगे कि, जापानी कृषकों को सिर्फ यही फसलें उगाने की जरूरत है। यदि किसानों को सिर्फ यही उगाना पड़े तो खेती का काम उनके लिए बहुत ही आसान हो जाएगा।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों का अब तक का सोच यह रहा है कि छोटे पैमाने की आत्मनिर्भर खेती गलत है। क्योंकि वह पुराने जमाने की है और ऐसी है, जिसे तत्काल बंद कर दिया जाना चाहिए। कहा जा रहा है कि, हर काश्त का क्षेत्रफल बढ़ाकर अमेरिकी ढंग से खेती जैसा कर दिया जाना चाहिए। इस ढंग का सोच सिर्फ कृषि पर ही नहीं लागू होता है बल्कि सभी क्षेत्रों का विकास इसी दिशा में अग्रसर हो रहा है।

इसका लक्ष्य यह है कि, खेती के काम में कम-से-कम लोग रहें। कृषि-अधिकारियों का कहना है कि, थोड़े से लोग भी आधुनिक मशीनों की मदद से उतने ही रकबे में अधिक पैदावार ले सकते हैं। इसे ही खेती की प्रगति कहा जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जापान के 70 से 80 प्रतिशत लोग किसान थे। बहुत जल्द ही यह आंकड़ा 50 पर आकर ठहरा है। कृषि-मंत्रालय का इरादा है कि, यूरोप और अमेरिका की तरह जापान में भी किसानों की संख्या आबादी के 10 प्रतिशत के स्तर पर रखी जाए और अन्य लोगों को इस क्षेत्र में आने से रोका जाए।

मेरी राय में तो आदर्श स्थिति यह होगी कि, शत-प्रतिशत लोग किसान हों। जापान में प्रत्येक व्यक्ति के लिए केवल चौथाई एकड़ कृषि योग्य भूमि है। यदि हर व्यक्ति को चौथाई एकड़ जमीन दी जाती है तो पांच व्यक्तियों के एक परिवार के लिए सवा एकड़ जमीन मिल जाएगी और वह इस परिवार को पूरे

वर्ष पलने के लिए काफी होगी। यदि प्राकृतिक कृषि को अपनाया जाए तो किसान के पास फुर्सत और गांव की सामाजिक-गतिविधियों के लिए भी ढेर सा समय बच रहेगा। मेरे विचार से तो देश को एक सुखी और सुखद भूमि बनाने का यह सबसे सीधा तरीका है।

25

प्रकृति की सेवा करें, सब कुछ शुभ होगा

दुनिया के मौजूदा संकटों का एक मात्र बुनियादी कारण मानव की मनमानी इच्छाएं हैं।

समाज के विघटन के साथ कम के बजाए ज्यादा, धीमे के स्थान पर तेज, इस भड़कीले विकास की धारणा की सीधा संबंध है। इसी के कारण मानव प्रकृति से दूर होता चला गया है। मानवता को व्यक्तिगत फायदों और भौतिक सुविधाओं पर अंकुश लगा आध्यात्मिक चेतना की तरफ मुड़ना होगा।

कृषि को विराट यांत्रिक गतिविधियों से दूर हो ऐसे छोटे फार्मों की तरफ लौटना होगा जो खुद जिंदगी से जुड़े हुए हों। भौतिक जीवन और आहार को सादगी भरा परिवेश देना होगा। ऐसा करने से ही हमारे काम हमें सुखद लगेंगे तथा आध्यात्मिक अनुभवों के लिए पर्याप्त गुंजाइश निकल आएगी।

किसान अपनी गतिविधियों का दायरा जितना बढ़ाता है उतना ही ज्यादा उसके मन और शरीर का क्षय होता है, और उतना ही वह आध्यात्मिक दृष्टि से संतुष्टिदायक जीवन से दूर होता जाता है। छोटे पैमाने की खेती आपको पुराने ढर्रे की लग सकती है, लेकिन ऐसा जीवन जीते हुए ही आपको आत्मिक चेतना के उस 'महान पथ' के बारे में चिंतन करने का मौका मिल सकता है, जिसमें आप दैनिक जीवन की सामान्य क्रिया कलापों पर ध्यान केंद्रित कर पाते हैं। मेरे ख्याल से यदि हम अपने परिवेश और रोजमर्रा के जीवन पर गहराई से विचार करें तो हमारी आंखों के सामने एक नई महानतम दुनिया उजागर हो सकेगर।

बहुत पुराने दिनों में एक एकड़ खेत पर खेती करनेवाला किसान जनवरी, फरवरी तथा मार्च के महीने पहाड़ों पर खरगोशों का शिकार करते हुए बिताता था। यद्यपि वह 'बेचारा किसान' कहलाता था, फिर भी उसे इस प्रकार की आजादी प्राप्त थी। नये साल की छुट्टियां तीन महीने तक चलती थीं। धीरे-धीरे यह अवकाश सिकुड़ते हुए पहले दो महीने, फिर एक महीने और अब सिर्फ तीन दिन का रह गया है।

नव वर्ष की छुट्टियों का इस तरह कम हो जाना यह बतलाता है कि, किसान कितना ज्यादा व्यस्त हो गया है तथा उसने अपनी सहज शारीरिक और मानसिक सेहत खो दी है। आधुनिक किसानी में किसान के लिए कविता करने या गीत रचने के लिए वक्त बचने का सवाल ही नहीं उठता।

पिछले दिनों गांव के उपासना स्थल की सफाई करते हुए मैं यह देखकर चौंक गया कि, वहां दीवारों पर कुछ पट्टिएं लटकी हुई हैं। उन पर की गर्द झाड़कर जब मैंने धुंधले पड़ गए अक्षरों को ध्यान से देखा तो वहां दर्जनों 'हाईकू' कविताएं लिखी नजर आई। इतने छोटे से गांव में भी बीस-तीस लोगों ने 'हाईकू' काव्य रचा और उसे ईश्वर को भेंट किया। यानी उस जमाने में लोगों के जीवन में इतनी ढ़ेर सारी खुली जगह थी। इनमें से कुछ पद्य रचनाएं तो सदियों पुरानी रही होंगी, चूंकि यह इतनी पुरानी बात है, वे

किसान निश्चय ही गरीब रहे होंगे, लेकिन उनके पास कविता रचने के लिए खाली वक्त की कमी नहीं थी।

अब इस गांव में किसी के पास कविता के लिए समय नहीं है। सर्द जाड़ों के महीनों में वे ब-मुश्किल एक-दो दिन का समय खरगोश के शिकार के लिए निकाल पाते हैं। अब तो फुर्सत के समय भी आकर्षण का केंद्र, उनके लिए टेलिविजन होता है। किसी किसान के जीवन को समृद्ध बनाने वाले सादी कलाओं की अब कोई गुंजाइश नहीं रह गई है। जब मैं कहता हूं कि खेती अब आत्मा के लिहाज से दरिद्र हो गई है तो मेरा यही मतलब होता है, खेती अब सिर्फ भौतिक विकास का साधन बन गई है।

ताओवादी संत लाओत्जू कहते हैं कि, एक संपूर्ण और भली जिंदगी छोटे से गांव में ही जी जा सकती है। जैन, बौद्ध सम्प्रदाय के संस्थापक बोधिधर्म ने नौ वर्ष का समय, बगैर इधर-उधर भटके एक गुफा में बिताया था। हरदम पैसा बनाने, नकद फसलों को उगाने-बढ़ाने तथा उन्हें बाजार में भेजने की चिंता करते रहना किसी किसान को शोभा नहीं देता। यहां गांव में रहना, प्रत्येक दिन और सब दिन की सम्पूर्णता को पूरी आजादी और खुशहाली के साथ जीना ही कृषि का मूल तरीका हो सकता है।

अपने तजुर्बों को आधे-आधे हिस्सों में बांटकर एक को भौतिक तथा दूसरे को आध्यात्मिक कहना, संकुचित और उलझे हुए सोच का नतीजा है। भोजन पर ही निर्भर करते हुए लोग जी नहीं सकते। अंत में जाकर हम निश्चित रूप से तो कह ही नहीं सकते कि, भोजन या खाद्य वस्तु क्या है। सबसे अच्छा तो यह है कि, लोग खाद्य के बारे में सोचना ही बंद कर दें। इसी तरह यदि लोग 'जीवन का सच्चा मतलब क्या है' इसे जानने की कोशिश में परेशान होना भी बंद कर दें, तो भी उनका भला होगा। इस महान आध्यात्मिक प्रश्न का उत्तर शायद हमें कभी भी नहीं मिल सकता। लेकिन यदि हम उसे नहीं जान पाते तो वह भी वैसे ठीक ही है।

हम पैदा हुए हैं और इस धरती पर जीते हुए जिंदगी की वास्तविकता का प्रत्यक्ष सामना कर रहे हैं।

जिंदगी पैदा हो जाने के नतीजे से ज्यादा कुछ भी नहीं है। जिंदा रहने के लिए लोग क्या कुछ न खाते हों, यह सब जो कुछ उन्होंनें इसके बारे में सोच रखा है, उससे ज्यादा कुछ नहीं है। यह दुनिया इस ढंग से बनी है कि, यदि वे अपनी इच्छा-शक्ति को परे सरका कर केवल प्रकृति के इशारों पर ही चलें तो भी उन्हें भूखों मरने की नौबत नहीं आएगी।

मानव जीवन का सच्चा आधार है - यहां इस क्षण में जिओ। जब हमारा अधकचरा वैज्ञानिक ज्ञान जिंदगी का आधार बन जाता है तो लोग कुछ इस ढंग से जीने लगते हैं जैसे के केवल चोकर, चर्बी, प्रोटीन, वनस्पतियां और केवल नाईट्रोजन, फास्फोरस के भरोसे ही जिंदा रह सकते हैं।

और वैज्ञानिक: वे प्रकृति को चाहें जितना टटोलें, चाहें कितना अनुसंधान करें, अंत में उन्हें यही पता चलता है कि, यह कुदरत कितनी रहस्यमयी मगर कितनी परिपूर्ण है। यह मानना कि शोध और आविष्कारों के द्वारा इंसान प्रकृति से बेहतर कोई चीज रच सकता है, बहुत बड़ा भ्रम है। मेरे ख्याल से तो लोगों के इतने सारे संघर्षों का कारण सिवा इसके कोई अन्य नहीं है कि, एक दिन वे उस चीज को महसूस कर लेंगे, जिसे हम 'प्रकृति की विराटता' कह सकते हैं।

जब तक किसान अपने काम के लिए प्रकृति की सेवा करता है, सब ठीक रहता है। पहले के जमाने में खेती को एक पवित्र काम माना जाता था। जब मानवता ने इस आदर्श को भुलाया तभी से व्यापारिक कृषि पैदा हुई। जैसे ही किसान ने पैसे कमाने के लिए फसलें उगाना शुरू किया, वह खेती के असली सिद्धातों को भूल गया।

बेशक, व्यापारी की भी समाज में एक महत्वपूर्ण भूमिका है। लेकिन उनकी गतिविधियों की महिमा बखान करने से जीवन के असली स्रोत के महत्व को मानने से लोग दूर होने लगते हैं। खेती एक ऐसा पेशा है जो कि प्रकृति के दायरे में हाने के कारण इस स्रोत के करीब होता है। बहुत से किसान प्राकृतिक परिवेश में रहते और काम करते हुए भी उससे अनजान रह जाते हैं। लेकिन मेरे खयाल से खेती ही उन्हें उसके प्रति जागरूक होने के अवसर प्रदान करती है।

'शरद ऋतु वर्षा लाएगी या आंधी, मैं नहीं जानता, मगर मुझे आज खेतों में काम करना है।' यह शब्द हैं एक पुराने देहाती गीत के। इनमें एक जीवनशैली के रूप में खेती का सार छुपा हुआ है। बिना इसकी परवाह किए कि फसल कैसी होगी, खाने को पर्याप्त अनाज उगेगा या नहीं, सहज भाव से बीज और प्रकृति के मार्गदर्शन में पौधों की स्नेहपूर्वक साज-संवार करने का भी एक आनंद होता है।

26

प्राकृतिक कृषि की विभिन्न शैलियां

'काम' शब्द को मैं कुछ खास पसंद नहीं करता। प्राणियों में सिर्फ इंसान को ही काम करना पड़ता है। यह मेरे हिसाब से दुनिया की सबसे हास्यास्पद बात है। अन्य प्राणियों को आजीविका सिर्फ जिंदा रहने में ही प्राप्त हो जाती है। लेकिन लोग यह सोचकर, काम में पागलों की तरह भिड़े रहते हैं कि, जिंदा रहने के लिए उन्हें ऐसा करना ही चाहिए। काम जितना बड़ा हो, चुनौती जितनी ज्यादा हो, उनके हिसाब से वह उतना ही ज्यादा चमत्कारी होता है। हमारा बहुत भला होगा यदि हम ऐसी सोच को त्याग कर ऐसी सहज और आराम की जिंदगी जीना शुरु करें, जिसमें फुर्सत का वक्त ढेर सा हो। मेरे खयाल से तो जिस तरह से कटिबंधीय (ट्रापिकल) इलाकों में प्राणी रहते हैं, वही सबसे अच्छा तरीका है। वे सिर्फ सुबह और शाम को बाहर निकलकर देख लेते हैं कि, खाने के लिए कुछ है या नहीं, और बाकी दोपहरी में मजे से लंबी तान कर सोते हैं।

सादगी का ऐसा जीवन इंसानों के लिए तभी संभव होगा जब वे सीधे अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं पैदा करने के लिए ही काम करें। इस तरह के जीवन के काम, वैसा काम नहीं रह जाता है, जैसा कि लोग उसके बारे में सोचते हैं, बल्कि हम सिर्फ वही करते हैं, जिसको करने की जरूरत है।

चीजों को इस तरफ मोड़ना ही मेरे जीवन का लक्ष्य है। यही लक्ष्य उन सात-आठ युवाओं का भी है, जो सामुदायिक ढंग से पहाड़ी पर की झोपड़ियों में रहकर किसानी कामों में मेरा हाथ बंटाते हैं। ये नौजवान किसान बनना चाहते हैं, नये गांव और समुदाय स्थापित कर इस प्रकार के जीवन को एक मौका देना चाहते हैं। वे मेरे फार्म पर व्यावहारिक हुनर सीखने के लिए आते हैं, जिनकी उन्हें इस योजना को क्रियान्वित करने के लिए जरूरत पड़ेगी।

यदि आप देश में इधर-उधर नजर डालेंगे तो आपको इस तरह के कई समुदाय इधर कुछ समय में उभर आए नजर आ जाएंगे। यदि कुछ लोग उन्हें हिप्पियों का जमावड़ा कहते हैं तो भी मुझे कोई ऐतराज नहीं है। उन्हें आप वैसा भी मान सकते हैं, लेकिन एक साथ रहते हुए और काम करते हुए प्रकृति तक वापस पहुंचने के रास्ते पर चलते ये युवक 'नए किसान' के मॉडल हैं। वे यह समझ गए हैं कि, अपनी जड़ों के साथ जुड़ने का मतलब यह है कि, वे अपनी ही जमीन की पैदावार पर निर्भर रहें। जो समुदाय अपना खाद्य खुद नहीं उगा पैदा कर सकता वह ज्यादा समय तक नहीं टिकेगा।

इनमें से कई युवा भारत जाते हैं या फ्रांस के गांधी-ग्राम, इसराइल के 'किबुटजों' में भी जाकर रहते हैं, और पश्चिम अमेरिका के पर्वतों और मरूस्थलों के कबीलों में भी। कुछ बिरादरियां दक्षिण जापान की तोकार द्वीप श्रृंखला के सुवानी द्वीप में भी रह रही है, जो नये पारिवारिक ढंग से आदिवासियों जैसी घनिष्टता के साथ रहने का प्रयोग कर रही है। मेरे खयाल से उन मुट्‌ठीभर लोगों का यह आंदोलन बेहतर युग का पथ-प्रदर्शन कर रहा है। इन्हीं जैसे लोगों के बीच प्राकृतिक खेती अब अपने पैर जमाकर गति प्राप्त कर रही है।

इनके अलावा बहुत से धार्मिक संप्रदायों और संगठनों ने भी प्राकृतिक खेती को अपनाया है। मानव की सारभूत प्रकृति की तलाश करते हुए, आप इस काम को कैसे भी कर रहे हों, आपको शुरुआत स्वास्थ्य के बारे में सोचते हुए ही करनी होगी। सही चेतना की तरफ ले जानेवाले रास्ते पर चलनेवालों के लिए प्रतिदिन सादगी से रहना तथा पौष्टिक, प्राकृतिक खाद्य उगाना और खाना आवश्यक होता है। इससे यही समझ में आता है कि, कई लोगों के लिए इसकी शुरुआत करने की सबसे अच्छी जगह प्राकृतिक कृषि ही रही है।

मैं खुद किसी खास धार्मिक सम्प्रदाय में विश्वास नहीं करता, और अपने विचारों पर किसी से बातचीत करने में मुझे कोई ऐतराज नहीं है। ईसाई, बौद्ध धर्म, शिंतों तथा कई अन्य धर्मों की बारीकियों और विशेषताओं में जाने की भी मुझे कोई खास रुचि नहीं है, लेकिन यह बात जरूर मुझे विचित्र लगती है कि, गहरी धार्मिक प्रतिबद्धताओं वाले लोग बराबर मेरे फार्म की तरफ आकर्षित होते हैं। मेरे विचार से इसका कारण यही है कि, अन्य प्रकार की खेतियों के विपरीत प्राकृतिक खेती एक ऐसे दर्शन पर आधारित है जो मिट्‌टी विश्लेषण, पानी में आक्सीजन और हाईड्रोजन के घनत्व तथा फसल पैदावार जैसी चीजों से परे जाती है।

कुछ दिनों पहले पेरिस स्थित जैव-बागवानी केंद्र से एक शख्स यहां पहाड़ी पर चढ़कर आए और दिन भर हमने बातचीत करते बिताया। फ्रांस की हालातों को सुनने पर मुझे पता चला कि वे लोग जैव कृषि पर एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित करने की योजना बना रहे हैं, और उस बैठक की तैयारी के लिए ही ये फ्रांसीसी सज्जन सारी दुनिया के जैव तथा प्राकृतिक कृषि फार्मों की यात्रा कर रहे हैं। मैंने उन्हें बागान और खेतों का दौरा करवाया, और फिर मगवर्ट चास की चुस्कियां भरते हुए मैंने अपने पिछले तीस सालों के तजुर्बों पर आधारित विचार उसे बतलाए।

सबसे पहले तो मैंने उससे कहा कि, जब आप पश्चिम में प्रचलित जैव कृषि के सिद्धांतों पर विचार करते हैं तो आपको पता चलता है कि, उनमें और चीन, कोरिया तथा जापान में सदियों से प्रचलित

परम्परागत प्राचीन कृषि रीतियों में कोई खास अंतर नहीं है। जापान में सारे किसान मेईजी तथा ताइशो-युग (1868-1926) से लेकर अभी द्वितीय विश्व युद्ध के पहले तक इसी प्रकार की खेती करते चले आ रहे थे।

यह वह प्रणाली थी जो खाद और प्राणी तथा मानव द्वारा फेकें पदार्थों को री-साइकिल करने के बुनियादी महत्व पर जोर देती थी। प्रबंधन का रूप गहन खेती का था (विस्तृत नहीं) तथा उसमें फसल अदला-बदली, मिश्रित रोपण तथा हरे खाद के उपयोग जैसी प्रथाएं शामिल थीं। चूंकि जगह सीमित थी, खेत कभी खाली नहीं रहने दिए जाते थे, और बुआई तथा कटाई के कार्यक्रम वक्त की सख्त पाबंदी के साथ चलते थे। सारे जैव अवशिष्टों (फेंकी हुई चीजों) को खाद बनाकर खेतों को वापस लौटा दिया जाता था। जैव खाद के प्रयोग को पुख्ता तौर पर प्रोत्साहित किया जाता था। तथा कृषि अनुसंधान मुख्यतः जैव पदार्थों तथा खाद बनाने की तकनीकों से ही मतलब रखता था।

इसी तरह अभी आधुनिक समय तक किसान जापान में जो खेती करते थे, उसमें प्राणी, फसलें तथा मानव मिलकर एकात्म हस्ती बन जाते थे। यह कहा जा सकता है कि, पश्चिम में जिस तरह की जैव कृषि हो रही है वह वहां की प्रचलित खेती से भिन्न होने के लिए इसी पूरब की परम्परागत खेती को ही अपना रही है।

मैंने आगे यह भी कहा कि, प्राकृतिक खेती के विभिन्न तरीकों में से इन दो को अलग किया जा सकता है। व्यापक प्राकृतिक खेती को आप साधारण बौद्ध शब्दावली में 'महायान' तथा 'हीनयान' प्राकृतिक कृषि कह सकते हैं।

व्यापक, महायान कृषि अपने में से ही तब उपजती है, जब मानव और प्रकृति में एकता बनी रहती है। वह प्रकृति और मन की नकल, जैसे वे हैं, उसी रूप में करती है। वह इस विश्वास पर चलती है कि, यदि मानव कुछ देर के लिए अपनी इच्छाशक्ति को त्याग कर खुद को प्रकृति के द्वारा निर्देशित होने देता है तो, इसके बदले में प्रकृति उसे सब-कुछ अपनी तरफ से देती है। इसे इस दृष्टांत द्वारा भी समझा जा सकता है कि, प्राकृतिक कृषि में मानव और प्रकृति के संबंध एक आदर्श परिवार में पति-पत्नी जैसे होते हैं। यह दाम्पत्य न तो (बाहर से) प्रदान किया जाता है न ग्रहण किया जाता है। आदर्श जोड़ी अपने आप बन जाती है।

दूसरी तरफ संकुचित प्राकृतिक कृषि में प्रकृति की प्रयासपूर्वक नकल की जाती है, और इसके लिए 'जैव' या अन्य तरीक सोच-समझकर अपनाए जाते हैं। खेती दिए गए लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए की जाती है। हालांकि आप प्रकृति को सच्चा प्यार करते हैं तथा ईमानदारी से उसका हाथ भी मांगतें हैं, लेकिन यह रिश्ता तब भी आजमाईशी ही रहता है। आधुनिक औद्योगिक कृषि, बगैर उसका मतलब पकड़े, दैवी बुद्धि की तलब भी करती है। और अपने मकसद के लिए प्रकृति का उपयोग करना चाहती है। बेचैनी से यहां-वहां भटकने के बावजूद वह ऐसा कोई नहीं पाती जिसके सामने वह प्रेम निवेदन कर सके।

प्राकृतिक कृषि का संकुचित विचार कहता है कि, किसान के लिए यह अच्छा है कि, वह मिट्टी में जैव पदार्थ मिलाए और मवेशी पाले और प्रकृति का उपयोग करने का यही सर्वश्रेष्ठ तथा कार्यकुशल

तरीका है। व्यक्तिगत व्यवहार के लिहाज से तो उसमें कोई हर्ज नहीं है, लेकिन केवल ऐसा ही करके प्राकृतिक कृषि की असली भावना को जिंदा नहीं रखा जा सकता। इस तरह की संकुचित प्राकृतिक कृषि की तुलना तलवारबाजी की उस शैली से की जा सकती है, जिसे एक प्रहारवाली शैली कहते हैं। इस शैली में विजय, तकनीक के कुशल, लेकिन संकोची प्रयोग द्वारा हासिल की जाती है। आधुनिक औद्योगिक कृषि दो-प्रहारवाली शैली को अपनानी है, जो मानती है कि, तलवार के ढेर सारे प्रहार, एक-के-बाद-एक करके ही जीत हासिल की जाती है।

शुद्ध प्राकृतिक कृषि में किसी भी तरह के प्रहार के लिए कोई जगह नहीं है। न तो उसे कहीं जाना है, न कोई जीत हासिल करनी है। 'कुछ न करने' को व्यवहार में लाना ही एक चीज है, जिसे प्राप्त करने के लिए किसान को प्रयत्नशील होना चाहिए। लाओत्ज़ू ने क्रियारहित प्रकृति की बात की थी, और मुझे विश्वास है कि यदि वे किसान होते तो निश्चय ही उन्होंने प्राकृतिक कृषि ही की होती। मेरे खयाल से गांधी का तरीका एक विधिहीन विधि, विजय की इच्छारहित कर्म तथा प्रतिरोध-रहित मनःस्थिति ही प्राकृतिक कृषि के सबसे पास पहुंचाता है। जब हम इस तथ्य को समझ लेते हैं कि, आनंद और सुख पर अधिकार करने की कोशिश में हम उसे खो बैठते हैं, तो हम प्राकृतिक कृषि के सार को भी पकड़ लेते हैं। खेती का अंतिम लक्ष्य पसलें उगाना नहीं बल्कि इंसानों को शिक्षित कर परिपूर्ण बनाना है।

भाग 4

27

खाद्यों के बारे में उलझन

वहां उस पहाड़ी पर बनी झोपड़ियों में आकर तीन साल तक रहे एक युवक ने एक मरतबा मुझसे कहा था, 'आपको पता है, जब लोग प्राकृतिक खाद्यों की बात करते हैं तो मैं नहीं जानता कि, तब उससे उनका मतलब क्या होता है।'

जरा सोचने पर पता लगता है कि, 'प्राकृतिक खाद्य' शब्दों से तो हर कोई परिचित है, लेकिन वह वास्तव में क्या होता है, इसे बहुत कम लोग समझ पाते हैं। ऐसे कई लोग हैं जो मानते हैं कि, प्राकृतिक आहार ऐसी चीजें खाना है, जिनमें कोई कृत्रिम रसायन या अतिरिक्त चीज न मिली हो। कुछ अन्य का कुछ ऐसा अस्पष्ट सा सोच होता है कि खाद्यों को वैसा खा लेना जैसा कि वे प्रकृति में मिलते हैं, यही प्राकृतिक आहार होता है।

यदि आप किसी ने पूछें कि, खाना पकाने में नमक और आग का प्रयोग प्राकृतिक है या अप्राकृतिक तो, इसका जवाब दोनों रूप में प्राप्त हो सकता है। यदि आदिम मानव की खुराक, जिसमें जंगलों में रहने वाले प्राणी तथा पौधे ही होते थे, ही प्राकृतिक हैं तो नमक और आग के प्रयोग पर आधारित आहार को प्राकृतिक नहीं कहा जा सकता। मगर यह दलील दी जाती है कि अग्नि और नमक के उपयोग की जिस जानकारी को मानव ने आदि काल में ही प्राप्त कर लिया था वह उसकी कुदरती नियती ही थी तो उस ढंग से तैयार भोजन पूरी तरह से प्राकृतिक ही माना जाएगा। अच्छा खाना कौन सा है? वे जंगली पदार्थ जो प्रकृति में जैसे हैं वैसे के वैसे ही खाए जाएं या वह भोजन किया जाए जिसे तैयार करने में मानवी

तकनीकों का उपयोग किया गया हो? क्या जुताई करके उगाई हुई फसलों को प्राकृतिक कहा जा सकता है? आखिर प्राकृतिक और अप्राकृतिक के बीच सीमा-रेखा आप कहां खींचते हैं।

हम कह सकते हैं कि जापान में 'प्राकृतिक आहार' शब्दों की उद्‌गम मेईजी युग में सागेन इशिजूका के उपदेशों में हुआ। उनके सिद्धांत को ही बाद में श्री साकुराजावा (जार्ज ओसावा) और श्रीनीकी ने परिष्कृत कर व्याख्यायित किया, जिसे पश्चिम के देशों में मैक्रो-बायोटिक्स (जीव वैज्ञानिकी) कहा जाता है। वह 'पोषण का पथ' आई चिंग के अद्वैत तथा चिंग-योग अवधारणा पर आधारित है। चूंकि इसका मतलब आमतौर से लाल (भूरे) चावल से लिया जाता है, प्राकृतिक खाद्य का सामान्य अर्थ साबुत अनाज और सब्जियां होती हैं, लेकिन प्राकृतिक खाद्य को हम सिर्फ भूरे चावल पर आधारित शाकाहार के रूप में परिभाषित नहीं कर सकते।

तो फिर आखिर वह है क्या?

इस सारे घपले का कारण यह है कि, मानव ज्ञान के दो रास्ते हैं - विभेदक (डिस्क्रिमनेटिंग) तथा अ-विभेदक (नॉन-डिस्क्रिमनेटिंग)।

लोगों को आमतौर से विश्वास यह है कि, दुनिया की सही पहचान विभेदकता के माध्यम से ही संभव हैं। इसलिए प्रकृति शब्द का आमतौर से जब उच्चारण किया जाता है, तो यह उसी प्रकृति की ओर संकेत करता है, जिसे विभेदकारी बुद्धि (ज्ञानेन्द्रियों) द्वारा अनुभूत किया जा सकता है।

मैं प्रकृति से उस खाली चित्र को स्वीकार करने से इंकार करता हूं, जो केवल मानव की बुद्धि से ही बनता है। तथा इसे उस असली प्रकृति से भिन्न मानता हूं जिसे अ-विभेदकारी समझ कर केवल महसूस किया जाता है। यदि हम प्रकृति के बारे में लोगों की इस भ्रांत धारणा को समाप्त कर दें, तो दुनिया की सारी अव्यवस्थाओं को ही समूल नष्ट किया जा सकता है।

पश्चिम में प्रकृति-विज्ञान तथा पूरब में यिन-यांग तथा आईचिंग का दर्शन विभेदकारी ज्ञान से ही विकसित हुए, लेकिन वैज्ञानिक सत्य की मार्फत कभी भी संपूर्ण सत्य तक नहीं पहुंचा जा सकता है, और दर्शनशास्त्र तो दुनिया की विभिन्न व्याख्याओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वैज्ञानिक ज्ञान के द्वारा जिस प्रकृति को हम पकड़ते हैं वह नष्ट हो चुकी प्रकृति है, कंकाल में निवास करता उसका प्रेत है। उसमें से आत्मा जा चुकी होती है। दार्शनिकों के ज्ञान से जानी गई प्रकृति मानव के अनुमानों से बने सिद्धांत हैं, जिनमें प्रेत की आत्मा तो है लेकिन कोई आकार नहीं।

अ-विभेदकारी (नॉन-डिस्क्रिमनेटिंग) ज्ञान प्राप्त करने का तरीका, सिर्फ सीधे-सीधे अंतर्दृष्टि पा जाना है, लेकिन लोग उसे 'सहज बोध' कहते हुए पिटे पिटाए वैचारिक ढांचे में फिट कर देते हैं। वास्तव में वह एक अनामस्रोत से प्राप्त ज्ञान होता है। यदि आप प्रकृति की सच्ची मूरत को देखना चाहते हैं तो उसके लिए आपको विभेदकारी (डिस्क्रिमनेटिंग) सोच को त्याग कर सापेक्षता की दुनिया से परे झांकना होगा। सृष्टि के आरंभ से ही न तो कोई पूरब है न पश्चिम, न चार मौसम है न कोई यिन या यांग है।

जब मैं यहां तक कह चुका तो उस युवक ने मुझसे पूछा, 'यानी आप न केवल प्रकृति-विज्ञान, बल्कि

यिनयांग तथा आई-चिंग पर आधारित प्राचीन दर्शनों को भी नहीं मानते?'

मैंने कहा कि ये दोनों अस्थायी, काम चलाऊ मार्गदर्शक संकेत चिन्हों की दृष्टि से उपयोगी हैं। लेकिन उन्हें सर्वोच्च उपलब्धियां नहीं कहा जा सकता। वैज्ञानिक सत्य तथा दार्शनिक सिद्धांत इस सापेक्ष दुनिया की अवधारणाएं हैं, और उसके बारे में वे सच हैं तथा वहीं तक उपयोगी भी हैं। मसलन, इस सापेक्ष विश्व में रहनेवाले उस आधुनिक मानव के लिए जिसने प्रकृति के क्रम को भंग कर अपनी आत्मा और शरीर को ध्वस्त कर लिया है, यिन-यांग प्रणाली व्यवस्था को फिर से बहाल करने के लिए एक प्रभावी तथा उपयुक्त संकेत चिन्ह मात्र हो सकती है।

ये सारे रास्ते लोगों को उस सीमा तक ही उपयोगी हैं कि वे एक प्राकृतिक खुराक हासिल करने के लिए उपयोगी सिद्धांतों तक उसे ले जाते हैं। लेकिन वास्तविक अर्थ में प्राकृतिक भोजन तक, वे उसे नहीं पहुंचाते। लेकिन यदि आप मानते हैं कि मानव का अंतिम लक्ष्य सापेक्ष विश्व से परे जाकर स्वतंत्रता के देश में विचरण करना है, तो उसका विभिन्न सिद्धांतों से बंधकर घिसटते रहना बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है। जब व्यक्ति उस इलाके में पहुंचने के योग्य हो जाता है जहां यिन और यान के दोनों पहलू अपनी मूल एकात्मता प्राप्त कर लेते हैं, तो इन प्रतीकों का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है।

अभी कुछ दिनों पहले, यहां आए उस युवक के मुंह से निकल पड़ा, 'यानी यदि आप वाकई एक प्रकृति-मानव बन गए हैं तो क्या आप जो चाहें वह खा सकते हैं?'

यदि आप सोचते हैं कि सुरंग के उस पार उजाला ही उजाला है, तो सुरंग का अंधेरा आपको अधिक समय तक परेशान करेगा। जो कुछ आप खा रहे हैं, उसका वास्तविक स्वाद आपको तभी मिलता है जब आपके मन से कोई स्वादिष्ट चीज खाने की चाह ही खत्म हो जाए। आपके खाने की मेज पर प्राकृतिक आहार का सादा खाना परोसना तो बहुत सरल है, लेकिन ऐसी दावत का रस सचमुच ले सकें, ऐसे लोग कम ही हैं।

28

प्रकृति का खाद्य मंडल

प्राकृतिक खाद्य के बारे में भी मेरा सोच वही है जो प्राकृतिक कृषि के बारे में है। जिस तरह प्राकृतिक कृषि की नकल उसके मूल रूप में यानी अ-विभेदकारी (नॉन-डिस्क्रिमनेटिंग) मन द्वारा देखी गई प्रकृति ही करती है, उसी तरह प्राकृतिक खुराक भी खान-पान का ऐसा तरीका है जिसमें जंगलों से एकत्रित खाद्य या प्राकृतिक कृषि से उगाए गए अनाज तथा प्राकृतिक ढंग से पकड़ी गई मछलियां आदि बगैर अ-विभेदकारी मन से हासिल की गई हों।

हालांकि मैं गैर इरादतन कर्म तथा विधिरहित विधि की बात कर रहा हूं, हमारी दैनंदिन गतिविधियों के जरिए, कालांतर में जो ज्ञान हमने हासिल किया है, उसकी उपयोगिता को मैं स्वीकार करता हूं। भोजन पकाने में अग्नि और नमक के उपयोग को प्रकृति से अलग होने की दिशा में पहला कदम कह कर उसकी आलोचना की जा सकती है, लेकिन वह वास्तव में, चूंकि ऐसा सहज प्राप्त ज्ञान है जो आदि काल के मानव ने ही प्राप्त कर लिया था, उसे दैवी-बोध मानते हुए स्वीकारा जा सकता है।

वे फसलें जो हजारों - दस हजारों वर्षों तक इंसानों के साथ रहते हुए विकसित हुई हैं, उन्हें पूरी तरह किसानों की वि-भेदकारी (नॉन-डिस्क्रिमनेटिंग) बुद्धि की उपज न मानते हुए उनका उपयोग प्राकृतिक रूप से प्राप्त होनेवाले खाद्य के रूप में किया जा सकता है। लेकिन ऐसी किस्में जो प्राकृतिक परिस्थितियों द्वारा विकसित न होकर तात्कालिक रूप से कृषि विज्ञानियों द्वारा बदल दी गई हैं, या थोक के भाव में पैदा की गई मछलियां तथा पालतू प्राणी इस श्रेणी में आने के योग्य नहीं हैं।

खेती, मछली पकड़ना, पशुपालन, रोजमर्रा की खाद्य आवश्यकताएं, कपड़ा, आवास, आध्यात्म, यानी यह जो कुछ सारा है, उसे प्रकृति के साथ एकात्मता स्थापित करना चाहिए।

मैंने प्रस्तुत रेखा-चित्रों द्वारा ऐसी प्राकृतिक खुराक को समझने की कोशिश की, जो विज्ञान और दर्शन से परे जाती है। पहले चित्र में ऐसे खाद्य पदार्थों को एकत्र किया गया है, जिन्हें सबसे ज्यादा आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। इन खाद्यों को कमोबेश समूहों में जमाया गया है। दूसरे चित्र में वे खाद्य हैं जो साल के विभिन्न महीनों में प्राप्त होते हैं। इन चित्रों में प्रकृति के खाद्य मंडल रचित हैं। इस मंडल से यह पता चलता है कि धरती पर प्राचीन खाद्यों के असीम स्रोत हैं। यदि लोग खाद्य पूरे अद्वैवतभाव (नो-माइंड) से प्राप्त करने की कोशिश करें तथा उन्हें यिन और यांग के बारे में कुछ भी न पता हो तो भी वे पूर्णत: प्राकृतिक आहार प्राप्त कर सकते हैं।

जापान के गांव में रहनेवाले किसानों और मछुआरों को इन मंडलों के तर्क में कोई खास दिलचस्पी नहीं होती। वे लोग तो अपने आस-पास के इलाके से ही मौसमी खाद्य चुनकर प्रकृति के परामर्श का पालन करते हैं।

वसंत ॠतु के प्रारंभ से ही, जबकि सात जड़ी-बूटियां धरती से अंकुरित होती हैं, किसान सात प्रकार के स्वाद चख सकता है। इनके साथ-साथ ही वह तालाब के घोंघों, समुद्री-सीपों तथा शैल मछली का लजीज जायका भी ले लेता है।

हरी चीजों का मौसम मार्च महीने में आता है। ब्रेकन मगवर्ट, ऑस्मंड तथा अन्य पहाड़ी पौधे और बेशक तेंदू और आड़ू की नई कोपलें तथा पहाड़ी रतालू तो खाए ही जा सकते हैं। अपने हल्के और नाजुक स्वाद के साथ उनसे स्वादिष्ट टेम्पूरा बनाया जा सकता है। तथा उनका प्रयोग सिझाने के लिए भी किया जा सकता है। समुद्र तटों पर वसंत में ही 'केल्प', 'नोरी' जैसी समुद्री वनस्पतियां तथा पथरीली पतवार स्वादिष्ट तथा विपुल मात्रा में होती है।

जिन दिनों बांस से कोपलें फूट कर लंबी होने लगती हैं, समुद्र में ग्रे-रॉक काड, सी-ब्रीम तथा पट्टीदार पिग फिश मछलियों का जायका कुछ और ही होता है। आशीस फूलों के साथ इस मौसम का समारोह क्षीणकाय, फीतेदार मछलियों बांगड़ा, 'साशिमी' के साथ मनाया जाता है।

हरे मटर तथा लीमा और फावा की फलियों तो सीधे छीलकर ही बनाई जा सकती हैं। या उन्हें चावल, गेहूं या जौ जैसे साबुत अनाजों के साथ उबालकर भी खाया जा सकता है।

बारिश के समाप्त होते-होते, जापान के अधिकांश इलाकों में वर्षा जून से मध्य जुलाई तक होती है।

जापानी आलूबुखारों को नमक लगाकर रख दिया जाता है, तथा रसभरियां और स्ट्राबेरियां बहुतायत से आ जाती हैं। इस समय तक हमारा शरीर स्वाभाविक रूप से प्याज की तीखी खुशबू तथा लोकाट, आड़ू तथा खुबानी जैसे पानीवाले फलों की चाह करने लगता है। लोकाट पौधे का सिर्फ फल ही नहीं खाया जाता बल्कि उसकी गुठली को पीसकर एक प्रकार की 'कॉफी' बनाई जाती है, तो उसकी हरी पत्तियों से 'चाय' बनती है। वह बढ़िया औषधी का भी काम करती है। आड़ू तथा चेंडू के परिपक्व पत्तों से आयु बढ़ाने वाला टॉनिक बनता है।

गर्मियों की ऋतु में जब धूप तेज होती है, किसी छायादार पेड़ के नीचे बैठे तरबूज खाने या शहद चाटने का मजा कुछ और ही होता है। गाजर, पालक, खीरा, ककड़ी तथा मूली जैसी गर्मी की कई सब्जियां इस समय तक पक कर तैयार हो जाती हैं। गर्मियों की सुस्ती दूर करने के लिए शरीर को सभी सब्जियों और अलसी के तेल की जरूरत महसूस होने लगती है।

आपको यदि यह रहस्यमय लगता है तो आप उसे वैसा ही समझ सकते हैं, लेकिन यह सच है कि, गर्मियों में जब हमारी भूख घटती है तब हमें जाड़ों में बोया और वसंत में कटा अनाज भाता है, और इसलिए जौ के कई प्रकार के नूडल्स बना-बना कर खाए जाते हैं। सावा या कूटू भी इन्हीं दिनों काटा जाता है। यह जापान का पुरातन पौधा है और इस मौसम में शरीर को बहुत रास आता है।

पतझड़ की शुरुआत का मौसम भी खाने-पीने के हिसाब से बढ़िया होता है, कई तरह के फल और सब्जियों के अलावा सोयाबीन, 'अजूकी' बीन तथा कई तरह के पीले अनाज एक साथ पकते हैं। शरद ऋतु के चंद्र-दर्शन पर्वों को मनाते हुए बाजरी के 'केक' का आनंद उठाया जाता है। 'तारो' आलुओं के साथ अधपकी सोयाबीन परोसी जा सकती है। शरद ऋतु के आगे बढ़ते-बढ़ते मात्सुता के मशरूम (कुकुरमुत्ते) तथा लाल सेम के साथ पका चावल और चेस्टनट फल खाए जा सकते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि, गर्मियों की तेज धूप में चावल भी अब पक चुका होता है, यानी वह मुख्य आहार जो ढेर सी मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है, तथा जिसमें पोषकता खूब होती है, सर्दियों के लिए यह बचाकर रखा जा सकता है।

पहली बार पाला पड़ते ही आप मछली कबाब बेचनेवालों के यहां नजर डालना चाहेंगे। इन दिनों आप गहरे पानी में मिलनेवाली 'ट्यूना' तथा पीली पट्टियोंवाली मछलियां पकड़ सकते हैं। मजे की बात तो यह है कि, जापानी मूलियां तथा हरे पत्तोंवाली सब्जियां, जो इन दिनों खूब मिलती हैं, इन मछलियों के साथ बढ़िया रहती हैं।

नए साल की छुट्टियों के पकवान उन खाद्यान्नों से पकाए जाते हैं, जिन्हें इसी मौके के लिए पहले से नमक लगाकर सुरक्षित रखा जाता है।

सर्दियों में जापान में इस मौसम में नमक लगाकर रखी हुई सामन मछलियां, हेरिंग के अंडे, लाल समुद्री झींगे तथा काले मटर हर साल इस दावत के लिए उपयोग की जाती है।

सर्दियों में उन मूली और शलजमों को खोद निकालना, जो कि मिट्टी और बर्फ से ढंके रहने दिए गए हैं, एक मजेदार अनुभव होता है। इनके साथ ही जो बहुत प्रकार के अनाज तथा फलियां पूरे वर्ष उगाए

गए हैं तथा 'मीसो' और 'सॉस' की चटनी हमेशा ही उपलब्ध रहते हैं कड़ी ठंड के इस मौसम में बंदगोभी, मूली, कुम्हड़ा तथा सरकंदों के अलावा कई किस्म के खाद्य भी बहुतायत से मिलते हैं। इन्हीं दिनों जंगली प्याज तथा गंदना भी समुद्री खीरों तथा औइस्टरों (कस्तूरों) के साथ बहुत रुचिकर लगते हैं।

वसंत का इंतजार करते हुए स्ट्राबेरी, जिरेनियम की बेल की खास पत्तियां तथा मूलियों के अंकुर बर्फ की चादर तोड़ कर बाहर आते दिखलाई पड़ते जाते हैं। जलकुंभी की वापसी तो होती ही है, मोठ तथा अन्य जंगली जड़ियों को तो घर के पिछवाड़े में ही उगाया जा सकता है।

इस तरह इस सादे भोजन को अपनाते हुए, अपने आस-पास ही विभिन्न मौसमों में मिलने वाले खाद्यों को एकत्र कर तथा उनके कुदरती जायके तथा पौष्टिक तत्वों को ग्रहण करते हुए स्थानीय ग्रामवासी प्रकृति के वरदानों को स्वीकार करते हैं।

गांव के लोग इन खाद्यों का स्वादिष्ट जायका तो पहचानते हैं, लेकिन वे प्रकृति के रहस्यमय स्वाद को नहीं चख सकते ऐसा भी नहीं है। वे उसे चख तो सकते हैं, लेकिन शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर सकते।

प्राकृतिक भोजन एकदम हमारे कदमों में पड़ा हुआ है।

29

खाद्य पदार्थों की संस्कृति

यदि पूछा जाए कि हम खाना क्यों नहीं खाते हैं, तो बहुत कम लोग इससे आगे सोच पाएंगे कि, खाना जिंदा रहने और मानव शरीर की वृद्धि के लिए आवश्यक है। लेकिन इससे परे असली सवाल मानव की आत्मा के साथ खाद्यों के संबंध का है। अन्य प्राणियों को तो सिर्फ खाना, सोना और खेलना ही काफी होता है। इंसानों के लिए भी यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि होती, यदि वे पौष्टिक भोजन सादी दिनचर्या और चैन से सोकर सुकून प्राप्त कर लेते।

बुद्ध ने कहा था: 'आकार की रिक्तता है और रिक्तता ही आकार है।' चूंकि बौद्ध शब्दावली में आकार का मतलब पदार्थ या वस्तु से होता है तथा 'रिक्तता' या खालीपन से तात्पर्य मन से है। वे कह रहे हैं कि 'मन' और 'पदार्थ' एक ही चीज है। वस्तुओं के भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार, रंगरूप तथा खुशबुएं होती हैं। और मनुष्य का मन एक तरफ से दूसरी तरफ भटकते हुए उनकी तरफ आकर्षित होता रहता है। लेकिन वास्तव में 'पदार्थ' तथा मन एक ही चीज हैं।

रंग

दुनिया में सात रंग मूल होते हैं, लेकिन यदि इन्हें आपस में मिला दिया जाए तो वे सफेद हो जाते हैं। प्रिज्म के द्वारा विभाजित होने पर सफेद प्रकाश सात रंगों में बदल जाता है। जब मनुष्य दुनिया का वि-मन (नो-माइंड) होकर देखने लगता है तो रंग में का रंग लुप्त हो जाता है। इसे हम रंगहीनता कहते हैं। सात रंग हमारे समक्ष तभी उतरते हैं जब हम सतरंगे विभेदकारी मन से उन्हें देखते हैं।

पानी भी कई रूपांतरों से गुजरने के बाद भी पानी ही रहता है। इसी तरह हमारा सचेतन मन बदलता हुआ नजर आने के बावजूद, हमारा मूल मन 'अपरिवर्तनशील मन' कभी नहीं बदलता। जब हमें सात रंगों से लगन लग जाती है तो मन बड़ी आसानी से विचलित हो जाता है। पत्तियों, शाखाओं और फलों के रंग तो हमारी आंखों में उतरते हैं, लेकिन रंग के मूल आधार को हम अनदेखा कर जाते हैं।

यही बात खाद्यान्नों पर भी लागू होती है। इस दुनिया में ऐसे अनेक प्राकृतिक पदार्थ हैं जो मानव खाद्य के रूप में उपयुक्त है। इन खाद्यों में फर्क, मन करता है और उसी के चलते हम उन पर अच्छे या बुरे 'गुण' आरोपित करते हैं। इसके बाद लोग सोच समझकर वही चुनते हैं, जिससे बारे में वे सोचते हैं कि, वही उन्हें मिलना चाहिए। चयन की यही प्रक्रिया मानव पोषक तत्वों के उस आधार की पहचान में बाधक बनती है, जो कि प्रकृति स्थान और काल (मौसम) के मुताबिक तजवीज करती है।

प्रकृति के रंग हाईड्रेनिया की फूलों की तरह आसानी से बदलते हैं। सतत परिवर्तन ही प्रकृति का रूप है। इसी वजह से उसे अनंतगति भी कहते हैं, और इसीलिए हम उसे गतिहीन गति के रूप में भी ले सकते हैं। जब हम खाद्य के चुनाव के लिए तर्क-बुद्धि का सहारा लेते हैं, तो हमारी प्रकृति के बारे में समझ जड़ हो जाती है और हम प्रकृति के रूपांतरों, जैसे कि मौसमी बदलावों की अनदेखी कर देते हैं।

प्राकृतिक भोजन का उद्देश्य ऐसे ज्ञानी लोग तैयार करना नहीं होता जो ठोस व्याख्याएं कर सकें या भिन्न प्रकार के खाद्यों में से कुशलतापूर्वक चुनाव कर सकें, बल्कि ऐसे अज्ञानी लोग तैयार करना, जो जानबूझकर फर्क पैदा किए बिना भोजन ग्रहण कर सकें। यह चीज प्रकृति के तरीकों के खिलाफ नहीं जाती। वि-मन की स्थिति को पाकर बिना आकार की बारीकियों में गए, रंगहीन के रंग को ही रंग के रूप में स्वीकार करने से ही सही आहार की शुरुआत होती है।

सुस्वाद (फ्लेवर)

लोग कहते हैं - 'जब तक आप चखें नहीं आप नहीं बतला सकते कि खाने का मजा क्या है।' लेकिन चखने के बाद भी खाने का जायका बदलता है - समय और परिस्थिती तथा चखनेवाले व्यक्ति की मन:स्थिति के अनुसार।

यदि आप किसी वैज्ञानिक से पूछें कि स्वाद का तत्व क्या होता है, तो वह उसके भिन्न घटकों को अलग कर तथा उसमें खट्टे, मीठे, कड़वे, नमकीन, तथा तीखेपन का अनुपात निकालकर उसे परिभाषित करेगा, न जीभ की नोक से। वैसे पांच अलग-अलग स्वादों का प्रभाव जीभ पर पड़ता है, परंतु उसे परिभाषित मन या दिमाग ही करता है।

प्राकृतिक व्यक्ति सही आहार प्राप्त करने में सक्षम होता है, क्योंकि उसकी वृत्तियों (इंसटिंक्टस) सही ढंग से काम करती हैं। वह सादे भोजन से संतुष्ट हो जाता है, क्योंकि वही पौष्टिक होता है, उसका स्वाद अच्छा लगता है तथा वह रोजमर्रा की औषध के रूप में भी उपयोगी होता है तथा आहार और मानव की आत्मा एकाकार हो जाती है।

आधुनिक मानव ने चूंकि अपनी सहज वृत्तियों (इंसटिंक्टस) को खो दिया है वह वसंत ॠतु की सात

जड़ी-बूटियों को एकत्र कर उनका रस लेने में अक्षम हो गया है। वह कई तरह के स्वादों की तलाश में निकल पड़ता है। उनकी खुराक गड़बड़ा गई है। तथा उसकी पसंदगी और नपसंदगी का अंतर बढ़ता जाता है और उसकी सहज प्रकृति अधिकाधिक रूप में उलझती जाती है। इस मुकाम पर आकर हम खाद्य पदार्थों को खूब प्रोसेस और रिफाइन करने और नई-नई पकाने की तकनीकों का आविष्कार करने लगते हैं, और उलझने और बढ़ जाती हैं। परिणाम स्वरूप अब खाद्य तथा मानव मन के बीच अलगाव बहुत ज्यादा बढ़ गया है।

आज अधिकांश लोगों ने चावल की खुशबू तक पहचानना बंद कर दिया है। चावल को पॉलिश कर इस तरह रिफाइंड कर दिया जाता है, उसमें सिर्फ स्वादरहित चोकर बच रहता है। पॉलिश किए चावल में असली चावल जैसी खुशबू और स्वाद नहीं होता। इसका नतीजा यह होता है कि, उसे अन्य तरकारियों या अतिरिक्त व्यंजनों की मदद के बगैर नहीं खाया नहीं जा सकता। लोगों की यह गलतफहमी हो गई है कि, चावल के पोषक तत्वों के खत्म हो जाने से कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि उनकी कमी को विटामिनों या मांस-मछली के द्वारा पूरा कर लिया जा सकता है।

स्वादिष्ट खाद्य अपने आप में स्वादिष्ट नहीं होते। खाना तब तक स्वादिष्ट नहीं होता जब तक कि खानेवाला यह न मान ले कि वह वैसा है। हालांकि अधिकांश लोग सोचते हैं कि, मांस या मुर्गा बहुत जायकेदार होता है, लेकिन वह उन लोगों के लिए वैसा नहीं होता जो धार्मिक या शारीरिक कारणों से तय करते लेते हैं कि ये घृणित चीजें हैं।

बिना कुछ किए सिर्फ खेलते-कूदते हुए ही बच्चे आनंदित रहते हैं। मगर भेद-भाव वाली प्रकृति वाले वयस्क यह पहले तय करते हैं कि, उन्हें कौन सी चीज सुखी कर देगी, और उनको वह मिल जाने पर ही संतुष्टि होती है। खाने की चीजें, उसे इसलिए रोचक नहीं लगती हैं क्योंकि उनमें प्राकृतिक स्वाद है या उसके शरीर के लिए सेहतमंद हैं, बल्कि इसलिए कि उसकी रुचि पर यह 'विचार' आरोपित कर दिया गया है कि, उसका स्वाद अच्छा है।

गेहूं के नूडल्स अच्छे लगते हैं परंतु ऑटोमैटिक मशीनों में सिक्का डालकर जो आप नूडल्स खाते हैं वे बहुत ही बेस्वाद होते हैं। लेकिन विज्ञापनों के द्वारा यह विचार ही हमारे दिमागों से निकाल दिया जाता है कि, उनका स्वाद बुरा है और बहुत से लोगों को ये बद-जायका नूडल्स भी भाने लगते हैं।

ऐसे किस्से प्रचलित हैं कि लोमड़ी द्वारा धोखे से कुछ लोग घोड़े की लीद खा गए। इसमें हंसने जैसी कोई बात नहीं है। आजकल लोग खाने के लिए 'शरीर' का उपयोग करते हैं, मन का नहीं। कई लोगों को इस बात की परवाह नहीं होती कि, उनके खाने में मोनो-सोडियम-ग्लूटामेट रसायन मिला है। चूंकि वे सिर्फ अपनी जीभ का इस्तेमाल करते हैं इसलिए वे आसानी से बेवकूफ बनते हैं।

शुरू में लोग सिर्फ इसलिए खाते थे कि वे जिंदा थे, और खाना स्वादिष्ट होता था। आधुनिक जमाने में लोग यह सोचने लगे हैं कि, भोजन को बहुत से मेहनत-मशक्कत करके रिफाइंड करने पर ही वह स्वादिष्ट बनता है। यदि आप खाद्य को स्वादिष्ट बनाने की 'कोशिश' न करें तो आप पाएंगे कि प्रकृति ने ही उसे स्वादिष्ट बनाया है।

पहला विचार तो यही होना चाहिए कि, हम एक ऐसे ढंग से रहें कि खुद खाद्य पदार्थ ही स्वादिष्ट लगें। लेकिन आजकल, इसके बदले, सारी कवायद खाद्यों में स्वाद बाहर से जोड़ने के लिए की जाती है। इसका नतीजा यह हुआ है कि, स्वादिष्ट खाद्य ही लुप्त हो गए हैं।

लोगों ने स्वादिष्ट पाव-रोटी बनाने की कोशिश की, और स्वादिष्ट पाव-रोटी गायब हो गई। अच्छे शाही और पौष्टिक खाद्य बनाने की कोशिश में हम बेकार के खाद्य बनाने में लग गए, और अब हमारी भूख ही तृप्त नहीं होती।

भोजन तैयार करने का सबसे अच्छा तरीका वही है, जिसमें पदार्थों के कुदरती स्वाद बने रहें। बहुत पहले रोजमर्रा की अपनी अक्ल के सहारे ही लोग सब्जियों से तरह-तरह के ऐसे अचार धूप में सुखाकर या नमक डालकर बनाते थे, जिनमें उनका खुद का कुदरती जायका बना रहता था।

खाना पकाने की कला की शुरुआत समुद्र से निकले नमक तथा सुलगती आग से होती है। खाद्य पदार्थ में उनका नैसर्गिक स्वाद तभी बना रहता है जब उन्हें कोई ऐसा व्यक्ति बनाता है जो पाक-कला के बुनियादी तत्वों के प्रति संवेदनशील हो। यदि पकाते हुए, खाना कोई बेगाना स्वाद ग्रहण कर ले, और यदि इस परिवर्तन का उद्देश्य सिर्फ जीभ को रिझाना हो तो उसे असली पाककला नहीं कहा जा सकता है।

आमतौर से लोग संस्कृति को एक ऐसी चीज मानते हैं जो मात्र मानवीय प्रयासों से ही रची, संरक्षित तथा विकसित की जाती है। लेकिन संस्कृति हमेशा मानव और प्रकृति की भागीदारी से उत्पन्न होती है। जब मानव समाज और प्रकृति के बीच सही सामंजस्य स्थापित हो जाता है तो संस्कृति अपना आकार खुद ग्रहण करती है। संस्कृति हमेशा से ही हमारे दैनंदिन क्रिया-कलापों से जुड़ी रहती है, और वह भावी पीढ़ियों को विरासत में मिलती चली आई और आज तक बनी हुई है।

किसी भी ऐसी चीज को संस्कृति नहीं कहा जा सकता है जो मानवीय घमंड तथा इंद्रियों के सुख की तलाश से उपजी हुई हो। सच्ची संस्कृति का जन्म प्रकृति में होता है तथा यह शुद्ध, सात्विक तथा विनम्र होती है। यह सच्ची संस्कृति खोकर मानवता नष्ट हो जाएगी।

जब लोगों ने प्राकृतिक भोजन को ठुकरा कर रिफाइंड खानों को अपनाया तो समाज उस रास्ते पर चल पड़ा जो आत्मविनाश की ओर ले जाता है। यह इसलिए कि ऐसा भोजन सच्ची संस्कृति के नहीं जन्मा है। भोजन ही जीवन है और जीवन प्रकृति से दूर नहीं हटना चाहिए।

30

भोजन सिर्फ जीने के लिए नहीं होता

सबसे अच्छा तो यही होता है कि हम हमेशा स्वादिष्ट भोजन ही करें, लेकिन अधिकांश लोगों के लिए खाना शरीर को पुष्ट रखने, काम करने के लिए शक्ति संचय करने तथा लंबी उम्र तक जिंदा रहने का एक जरिया है। मांएं अक्सर अपने बच्चों को खाना आग्रहपूर्वक खिलाती हैं, भले ही वह उन्हें रुचिकर न लगता हो, क्योंकि वैसा करना उनके लिए 'अच्छा' है।

लेकिन पोषण को स्वाद से अलग नहीं किया जा सकता। पौष्टिक खाना शरीर के लिए अच्छा तो होता ही है। वे हमारी भूख को शांत करने के साथ ही अपने आप में रुचिकर भी होता है। सही आहार को अच्छे स्वाद से अलग किया ही नहीं जा सकता।

आज से कुछ समय पहले तक इस इलाके के किसानों का दैनिक भोजन चावल, जौ और मीसो होता था। उसमें सब्जियां भी शामिल होती थीं। इस आहार से ही उन्हें लंबी आयु, मजबूत जिस्म तथा बढ़िया सेहत प्राप्त होती थी। महीने में एखाद बार दावत के तौर पर वे सिझाई हुई सब्जियां, भाप में पकाया लाल फलियों से युक्त चावल खा लेते थे। चावल पर आधारित इसी सादे भोजन से किसानों के स्वस्थ और तगड़े जिस्म का बढ़िया पोषण हो जाता था।

बिना पॉलिश के भूरे चावल तथा सब्जियां पूरब के लोगों का परम्परागत भोजन रहा है। यह पश्चिम के अधिकांश समाजों से बहुत ही अलग है। पश्चिमी पोषण विज्ञान के मुताबिक हर रोज के भोजन में निश्चित मात्रा में विटामिन, मांड, प्रोटीन, खनिज आदि अवश्य होने चाहिए। इनके बिना अच्छे स्वास्थ्य और संतुलित भोजन की वे कल्पना नहीं कर पाते हैं। इसी विश्वास के चलते वहां की मांएं अपनी संतानों को 'पौष्टिक' खाना खाने को बाध्य करती हैं।

कुछ लोगों को ऐसा लग सकता है कि, कई तरह के सिद्धांतों तथा व्याख्याओं पर आधारित पश्चिमी आहार विज्ञान अपने आप में परिपूर्ण है, लेकिन असलियत यह है कि उनका यह विज्ञान जितनी समस्यायों को हल करता है उससे कहीं ज्यादा निर्माण करता है।

पाश्चात्य पोषण विज्ञान की सबसे बड़ी समस्या यह है कि, उसमें मानव के आहार का प्रकृति-चक्र के साथ तालमेल मिलाने की कोशिश नहीं की जाती। इससे जो आहार सामने आता है वो मानव को प्रकृति से दूर ले जाता है। इसका सबसे अफसोसजनक नतीजा यह होता है कि, हम में प्रकृति के प्रति एक भय तथा असुरक्षा की भावना पैदा हो जाती है।

दूसरी समस्या यह है कि भोजन का मानव की आत्मा और भावनाओं से सीधा संबंध होने के बावजूद इन मूल्यों की पूरी तरह अनदेखी कर दी जाती है। यदि मानव को मात्र एक दैहिक (फिज्योलौजिकल) वस्तु मान लिया जाता है तो आहार के बारे में कोई तर्कसंगत समझदारी नहीं पैदा की जा सकती।

जब जानकारी को टुकड़ों-टुकड़ों में एकत्र कर भ्रामक निष्कर्ष निकाले जाते हैं, तो उनसे ऐसी खुराक ही बनती है जो अपूर्ण तथा प्रकृति से दूर ले जानेवाली होती है।

पश्चिम का विज्ञान पूरब के इस दार्शनिक विचार को पकड़ ही नहीं पाता कि, 'एक ही चीज के भीतर सब चीजें होती हैं' लेकिन अगर सभी चीजों को आपस में गड़मड़ कर दिया जाए तो उसमें से कोई एक चीज नहीं निकल सकती। हम तितली का चाहें जितना विश्लेषण या जांच-पड़ताल करें, लेकिन हम उसे बना नहीं सकते।

यदि पश्चिम के कथितरूप से वैज्ञानिक आहार को व्यापक स्तर पर अपना लिया जाए, तो कल्पना कीजिए कि कौन-कौन सी समस्याएं खड़ी हो सकती हैं। सबसे पहले तो उच्च क्वालिटी वाला मांस,

अंडे, दूध, सब्जियां, रोटी (पाव) तथा अन्य खाद्य पदार्थों की उपलब्धता साल के बारहों महीनों में लगातार बनाए रखना होगा। इससे इनके बड़े पैमाने पर उत्पादन तथा लंबे समय के लिए स्टोरेज की व्यवस्था करनी होगी। इस आहार को अपनाने के कारण जापान में अभी ही गर्मियों में उगनेवाले सलाद, खीरा, ककड़ी, बैंगन तथा टमाटर जैसी सब्जियां सर्दियों में उगाई जाने लगी हैं। वह दिन दूर नहीं है जब किसानों से कहा जाएगा कि, वे सर्दियों में आड़ू तथा वसंत में तेंदू की फसल काटें।

यह उम्मीद करना ही बहुत बेमानी है कि, हम बगैर मौसम का ध्यान रखे तरह-तरह के खाद्यों की आपूर्ति बनाए रख कर ही संतुलित आहार प्राप्त कर सकते हैं। प्राकृतिक रूप से पके हुए पौधों की अपेक्षा, बे-मौसम, अप्राकृतिक परिस्थितियों में उगाई गई सब्जियों और फलों में विटामिन और खनिज की मात्रा बहुत कम होती है। कोई ताज्जुब नहीं कि गर्मियों की उन सब्जियों, जिन्हें जाड़ों में उगाया गया होगा, में वो स्वाद और खुशबू नहीं होगी जो जैव तथा प्राकृतिक तरीकों से खुली धूप में उगाई गई होंगी।

सारी गड़बड़ी का मुख्य कारण रासायनिक विश्लेषण, पोषकता अनुपात तथा ऐसे ही अन्य विचार हैं। आधुनिक विज्ञान जिस भोजन की तजवीज करता है, वह पूरब के परम्परागज भोजन से अलग होने के कारण जापान के लोगों की सेहत को नुकसान पहुंचा रहा है।

31

आहार: मूल्यांकन

इस दुनिया में आहार को मुख्यत: चार प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है।

1 वह लापरवाह भोजन जो सिर्फ लोगों की रोजमर्रा की इच्छाओं, और जीभ को तृप्त करता है। यह आहार करते हुए लोग अपनी मानसिक चंचलता के चलते, कभी यहां तो कभी वहां तो कभी वहां खाते रहते हैं। इस भोजन को हम अकारण और असंयमी आहार कह सकते हैं।

2 अधिकांश लोगों खुराक जीवशास्त्रीय निष्कर्षों पर तय की गई है। शरीर को जिंदा रखने के लिए पौष्टिक भोजन खाए जाते हैं। इसे हम पदार्थवादी वैज्ञानिक भोजन कह सकते हैं।

3 आध्यात्मिक सिद्धांतों और आदर्शवादी दर्शन पर आधारित आहार इसमें वह संयमित भोजन, जिसका लक्ष्य संपीड़न (कम्प्रैशन) होता है, शामिल होता है। अधिकांश 'प्राकृतिक' खाद्य इसी श्रेणी में आते हैं, और इसे हम अ-विभेदकारी आहार कह सकते हैं।

4 दैवी इच्छा का पालन करनेवाली प्राकृतिक खुराक समस्त मानवीय ज्ञान को त्याग कर इसे हम अ-विभेदकार आहार कह सकते हैं।

लोग सबसे पहले उस बेकार आहार को छोड़ते हैं जो कि अनेक बीमारियों का कारण बनता है। इसके बाद वैज्ञानिक आहार जो कि केवल जीव-वैज्ञानिक जीवन को ही बनाए रखने का प्रयास करता है, से मोहभंग होने पर कई लोग सैद्धांतिक आहार की ओर उन्मुख होते हैं। अंत में इससे भी परे जाते हुए हम प्राकृतिक व्यक्ति की अ-विभेदकारी खुराक को प्राप्त होते हैं।

अ-विभेदकारी(नॉन-डिस्क्रिमनेटिंग)आहार

मानव जीवन केवल अपनी शक्ति के बल पर ही नहीं चलता। प्रकृति इंसानों को जन्म देकर उन्हें जिंदा रखती है। लोगों का प्रकृति के साथ यही संबंध बनता है। खाद्य पदार्थ दैवी वरदान होते हैं। इंसान प्रकृति से खाद्य पदार्थ बनाता नहीं हैं - परंतु वो उसे ईश्वर की कृपा से मिलते हैं।

खाद्य, खाद्य भी है और खाद्य नहीं भी है। वह मनुष्य का हिस्सा भी है और उससे अलग भी है।

प्राकृतिक खुराक तभी संभव होती है जब खाद्य शरीर, मन तथा मस्तिष्क प्रकृति के भीतर पूरी तरह एकाकार हो जाते हैं। हमारा शरीर तभी स्वतंत्र होता है, जब वह अपनी सहज प्रकृति के मुताबिक जो चीज उसे रोचक लगती है उसे खाता है तथा अच्छा न लगने पर उससे बचता है।

प्राकृतिक भोजन के लिए नियम तथा मात्राएं निर्धारित करना मुश्किल है। यह आहार अपने आपको खुद स्थानीय परिवेश तथा व्यक्ति विशेष की जरूरतों तथा शरीर की बनावट के अनुसार परिभाषित करती है।

सिद्धांत आधारित आहार

हर व्यक्ति को यह पता होना चाहिए कि, प्रकृति हमेशा संपूर्ण तथा अपने आप में ही पूरी तरह संतुलित होती है। प्राकृतिक भोजन संपूर्ण होता है तथा इसी संपूर्ण में सारे पौष्टिक तत्व तथा स्वाद निहित होते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि, यिन और यांग की प्रणाली का उपयोग करते हुए लोग विश्व की उत्पत्ति तथा प्रकृति के रूपांतरों की व्याख्या कर सकते हैं। यह भी लग सकता है कि, मानव शरीर की स-स्वरता (हारमोनी) को तय कर कायम रखा जा सकता है। लेकिन यदि सिद्धांतों के भीतर बहुत गहरा पैठा जाए (जो कि पूरब के चिकित्साशास्त्र के अध्ययन के लिए जरूरी है) तो हम विज्ञान के राज में पहुंचकर विभेदकारी (डिस्क्रिमनेटिंग) धारणाओं से नहीं बच पाते।

मानव ज्ञान की बारीकियों के बहाव में बहते तथा उसकी सीमाओं को न पहचानते हुए सिद्धांत आधारित आहार का अध्ययन करनेवाला व्यक्ति केवल अलग-अलग वस्तुओं से ही सरोकार रखने लगता है। लेकिन जब वह एक व्यापक दृष्टिकोण के साथ प्रकृति के अर्थ को पकड़ने की कोशिश कर रहा होता है।, तो उसका ध्यान उन छोटी-छोटी घटनाओं को नहीं देख पाता जो उसके ऐन पैरों के पास पर रही होती हैं

बीमार व्यक्ति की खुराक

बीमारी तभी आती है जब व्यक्ति प्रकृति से दूर हटने लगता है। बीमारी उतनी ही ज्यादा गंभीर होती है, जितना व्यक्ति प्रकृति से ज्यादा दूर होता जाता है। यदि बीमार व्यक्ति वापस स्वस्थ वातावरण में आ जाता है तो अक्सर उसकी बीमारियां गायब हो जाती हैं। जब प्रकृति से बहुत अलगाव हो जाता है तो बीमार लोगों की संख्या बढ़ जाती है, और तब प्रकृति की तरफ वापस लौटने की इच्छा तीव्र होती है।

लेकिन प्रकृति की तरफ वापस लौटते हुए, चूंकि इस बारे में उसकी समझ स्पष्ट नहीं होती कि, वास्तव में प्रकृति है क्या? उसकी यह कोशिश बेकार साबित होती है।

यदि कोई व्यक्ति वहां पहाड़ पर बिल्कुल आदिम-शैली का जीवन बिता रहा हो तो भी वह उसके वास्तविक लक्ष्य को पहचानने में चूक सकता है। जब आप कुछ करने की कोशिश करते हैं तो आपके प्रयासों के वांछित नतीज प्राप्त नहीं होते।

शहरों में रहनेवाले लोगों को प्राकृतिक आहार प्राप्त करने के लिए भारी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। प्राकृतिक आहार उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि किसानों ने उन्हें उगाना ही बंद कर दिया है। यदि वे प्राकृतिक खाद्य खरीदने में सफल भी हो जाते हैं तो भी उनके शरीरों को उस अच्छे भोजन को पचाने के लिए पहले खुद को उसके काबिल बनाना होगा।

इन हालातों में यदि आप पौष्टिक भोजन या संतुलित यिन-यांग आहार प्राप्त करने की कोशिश करते हैं तो आपमें अलौकिक निर्णय बुद्धि तथा साधन होने चाहिए। ऐसी दशा में प्रकृति की तरफ वापसी तो होती नहीं उल्टे एक ऐसी विचित्र किस्म की प्राकृतिक खुराक तैयार होती है जो व्यक्ति को प्रकृति से और ज्यादा दूर ले जाती है।

यदि आप आजकल के कथित 'स्वास्थ्य आहार' (हेल्थ-फूड) के स्टोरों में झांकें तो वहां तरह-तरह के 'ताजे खाद्य', 'पैकेज्ड फूड', 'विटामिन' तथा पूरक आहारों को देख आपका सिर चकराने लगेगा। वहां उपलब्ध साहित्य में कई प्रकार के आहारों को पौष्टिक तथा स्वास्थ्यवर्धक प्राकृतिक खाद्यों के रूप में पेश किया जाता है। कोई यदि कहता है कि सभी खाद्यों को एक साथ मिलाकर उबालना स्वास्थ्यपूर्वक है, तो कोई इससे ठीक उल्टी बात कहता है। कुछ लोग भोजन में नमक का महत्व प्रतिपादित करते हैं तो कुछ लोग उसे बीमारी का कारण मानते हैं। यदि कुछ लोग ऐसे हैं जो फलों को यिन तथा वानरों का आहार मानते हैं। तो कुछ लोग सब्जी, फलों को ही लंबे और सुखी स्वस्थ जीवन के लिए मुफीद मानते हैं।

देश, काल और परिस्थिति के मुताबिक ये सभी मत सही हो सकते हैं, और इसी वजह से लोग भ्रमित हो जाते हैं। या दूसरे शब्दों में किसी पहले से भ्रमित व्यक्ति के लिए ये सारे सिद्धांत और ज्यादा उलझाव पैदा करने की सामग्री बन जाते हैं।

प्रकृति सतत परिवर्तनशील है और हर क्षण अपना रूप बदलती है। लोग प्रकृति के सच्चे रूप को बूझ नहीं सकते। प्रकृति के चेहरे को समझ पाना असंभव है। प्रकृति को सिद्धांतों तथा औपचारिक विचार धाराओं में बांधने का प्रयास, हवा में तितलियां पकड़ने के जाल में पकड़ने जैसा है।

यदि आपका निशाना गलत लक्ष्य पर सही भी बैठ जाता है तो आप चूके हुए ही साबित होंगे।

मानवता उस दृष्टिहीन व्यक्ति की तरह है जिसे पता ही नहीं होता कि, वह कहां जा रहा है। वह विज्ञान की लाठी हाथ में लिए यहां-वहां टटोलता-टकराता चलता है तथा सोचता है कि, यिन और यांग उसके पथप्रदर्शक बन जाएंगे।

मैं कहना यह चाहता हूं कि, खाना आप अपने दिमाग से मत खाइए। यानी अपने विभेदकारी सोच से

छुटकारा पा लीजिए। मैंने सोचा था कि भोजन का मानव जीवन के संबंध का जो रेखाचित्र मैंने पहले बनाया था वो कुछ मार्गदर्शन करेगा। लेकिन इसे भी एक बार देख लेने के बाद आप फेंक सकते हैं।

सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि, व्यक्ति एक ऐसी संवेदनशीलता खुद में पैदा करें जो शरीर को अपना भोजन खुद चुनने योग्य बना दें। अपनी आत्मा को अलग कर केवल खाद्यों के बारे में सोचना ऐसा है कि, आप मंदिर में सूत्रों का पाठ करते हुए प्रवेश तो करें, लेकिन बुद्ध को अपने मन से मंदिर के बाहर निकाल दें। खाद्यों की समझ पैदा करने के लिए उनका फलसफा पढ़ने की बजाए हमें करना यह चाहिए कि, हम अपने ही दैनिक भोजन से अपने उपयुक्त सिद्धांत पैदा करें।

बीमार लोगों की देखभाल डॉक्टरों को करनी पड़ती है, जब कि स्वस्थ व्यक्ति की देखभाल प्रकृति खुद करती है। पहले बीमार पड़ जाना और फिर अच्छा होने के लिए प्राकृतिक खाद्यों में डूब जाने के बजाए अच्छा यही है कि, हम प्राकृतिक वातावरण में ही रहें ताकि बीमारी हमारे पास फटके ही नहीं।

जो युवा यहां पहाड़ी पर बनी हुई कुटिओं में रहने आते हैं तथा आदिम शैली में जीवन बिताते हैं, प्राकृतिक खाना खाते हैं, प्राकृतिक कृषि करते हैं, उन्हें मानव के अंतिम उद्देश्य की जानकारी हो गई है, और उन्होंने उसके अनुसार व उसके साथ बिल्कुल प्रत्यक्ष ढंग से रहने की तैयारी कर ली है।

32

खाद्य और खेती

प्राकृतिक खेती के विषय पर लिखी गई इस पुस्तक में प्राकृतिक आहार पर भी विचार करना आवश्यक है। यह इसलिए कि खाद्य और खेती एक ही शरीर के आगे और पीछे के दो हिस्से हैं। यह दिन जैसी साफ बात है कि, यदि प्राकृतिक खेती को नहीं अपनाया जाता तो जनता को प्राकृतिक खाने नहीं प्राप्त हो सकते। लेकिन यदि यह तय नहीं किया जाता कि, प्राकृतिक खाने क्या हैं तो किसान उलझन में ही पड़े रहेंगे कि वे खेती किस चीज की करें।

जब तक लोग प्राकृतिक जन नहीं बन जाते, तब तक न तो कोई प्राकृतिक कृषि होगी न प्राकृतिक खाने की चीजें पैदा होंगी। वहां पहाड़ी की एक कुटिया में अंगीठी पर लगी एक चीड़ की तख्ती पर मैंने ये शब्द लिख छोड़े हैं - 'सही खाना, सही काम और सही ज्ञान'। इन तीनों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। इनमें से एक के भी न होने से अन्य की अनुभूति नहीं हो सकती। यदि एक की भी अनुभूति हो जाती है तो सबकी हो जाती है।

लोग बड़ी तसल्ली के साथ सोच लेते हैं कि, दुनिया एक ऐसी जगह है जहां, 'प्रगति' अव्यवस्था और अशांति के बिना नहीं हो सकती। लेकिन उद्देश्यहीन तथा विनाशक विकास से अंततः मानव जाति का पतन और ध्वंस ही होता है। यदि इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं समझा गया कि, इस सारी गतिविधि क्रिया-कलापों का स्रोत क्या है, प्रकृति क्या है - तब तक हम अपने खोए हुए स्वास्थ्य को फिर से प्राप्त नहीं कर पाएंगे।

भाग 5

33

होशियार बनने की कोशिश में ही हम बेवकूफ बनते हैं

जापान में जाड़ों में रातें लंबी और सर्द होती हैं। इन दिनों दहकते अंगारों को देखना और चाय की चुस्कियां लेना बहुत अच्छा लगता है। कहा जाता है कि अलाव के इर्द-गिर्द बैठ किसी भी विषय पर बतियाना अच्छा लगता है। यही सोच कर मुझे लगा कि, अपने साथी किसान भाईयों की शिकायतों-शिकवों पर चर्चा करना, ऐसे समय बुरा नहीं है, सो मैंने यह बात चलाई है। लेकिन ऐसा लगता है कि, इमें भी कुछ दिक्कतें आ सकती हैं।

यहां मैं इतने दिनों से कहता चला आ रहा हूं कि, सब कुछ बे-मतलब है, मानव बिल्कुल अज्ञानी है, उसे कुछ भी हासिल करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए, और हम जो कुछ भी करते हैं सब व्यर्थ है। यह सब कहने के बाद भी मेरा उपरोक्त बातें कहने का क्या मतलब हो सकता है? यदि मैं लिखने बैठूं भी तो यही लिख सकता हूं कि, लेखन बेकार की कवायद है। यह सब बातें बड़ी उलझाने वाली हैं।

लिखने बैठने पर मैं अपने अतीत के बारे में ज्यादा कुछ नहीं लिख सकता, और भविष्य के बारे में कुछ कह सकूं इतना समझदार भी नहीं हूं। अंगीठी के कोयलों को उलट-पुलट करते हुए तथा रोजाना की सामान्य बातों पर बतियाते मैं किसी से कैसे यह उम्मीद कर सकता हूं कि, वह किसी बूढ़े अज्ञानी किसान की बकवास को झेले?

बागान की पहाड़ी कगार पर, प्रशस्त दोगो के मैदानों, तथा मात्सूयामा की खाड़ी की तरफ छोटी-छोटी मिट्टी की दीवारोंवाली झोपड़ियां बनी हुई हैं। यहां कुछ लोग इकट्ठा हो गए हैं, और मिल-जुल कर सादा जीवन जी रहे हैं। उन्हें कोई आधुनिक सुख-सुविधा उपलब्ध नहीं है। मोमबत्ती या कंदील की रोशनी में वे शांत शामें बिताते हैं, और उनका जीवन कुछ थोड़ी सी एकदम जरूरी चीजों (बिना पॉलिश किए चावल, सब्जियां, छोटा सा लबादा और कटोरा) के सहारे चलता है। वे कहां-कहां से आते हैं, कुछ दिन ठहरते हैं, और फिर अपनी राह चल देते हैं।

इन मेहमानों में होते हैं कृषि अनुसंधान-कर्ता, छात्र, विद्वान, किसान, हिप्पीगण, कवि, यायावर, छोटे-बड़े तथा किस्म-किस्म के विभिन्न देशों के सभी स्त्री-पुरुष जो लोग ज्यादा समय तक ठहरते हैं उनमें अधिकांश वे युवा होते हैं, जिन्हें कुछ समय तक आत्मचिंतन की जरूरत होती है।

मेरा काम इस सड़क के किनारे की सराय की देखभाल करना है। आने-जानेवाले इन मुसाफिरों को मैं चाय पेश करता हूं और वे जब खेतों में हाथ बंटाते हैं तो उनसे बाहरी दुनिया जो कुछ हो रहा है उसके बारे में जानकारी लेता हूं।

यह सब सुनने में बड़ा अच्छा लगता है। लेकिन वास्तव में यह जीवन इतना आसान और आरामदेह नहीं है। चूंकि मैं 'कुछ-मत-करो' खेती की हिमायत करता हूं, बहुत से लोग यह सोच कर यहां आते हैं कि यहां उन्हें ऐसा आदर्श लोक मिलेगा, जहां उन्हें बिस्तर से बाहर निकलने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी।

ऐसे लोगों को यहां आकर बड़ा धक्का सा लगता है। सुबह के कोहरे में झरने से पानी भर कर लाना, हाथों में छाले पड़ जाएं तक तक जलाऊ लकड़ी चीरना, टखनों-टखनों तक कीचड़ में खड़े होकर काम करना, ऐसी चीजें हैं, जिनसे घबराकर कुछ लोग जल्द ही मैदान छोड़ जाते हैं।

आज जब मैं कुछ युवाओं के समूह को एक छोटी सी झोपड़ी खड़े करते देख रहा था, फूनाबाशी इलाके की एक युवती चलकर मेरे पास आ खड़ी हुई। जब मैंने पूछा कि वह यहां क्यों आई है तो उसने कहा, 'मैं बस यहां चली आई हूं। इससे ज्यादा मैं कुछ नहीं जानती।' प्रतिभाशाली लेकिन कुछ बे-परवाह यह युवती समझदार है।

मैंने फिर पूछा, 'यदि तुम्हें पता है कि तुम अबोध हो, तो कहने को कुछ नहीं बचता, ठीक है ना?' इस दुनिया को अपनी विभेदक (डिस्क्रिमनेटिंग) शक्ति के द्वारा जानने-समझने की कोशिश में लगे लोग उसके अर्थ की अनदेखी कर जाते हैं। क्या इस दुनिया में चल रही सारी धक्का-पेल और कशमकश का कारण यही नहीं है।

उसने धीमे से कहा, 'हां यदि आप ऐसा सोचते हैं तो।'

'हो सकता है, तुम्हें यह ठीक से न मालूम हो कि, सच्चा ज्ञान क्या होता है। यहां आने से पहले तुमने किस प्रकार की किताबें पढ़ीं?'

उसने सिर हिलाकर जतलाया कि वह पढ़ने में विश्वास नहीं करती।

लोग पढ़ते यह सोचकर हैं कि वे ना-समझ हैं, लेकिन पढ़ने से लोगों को चीजों को समझने में कोई मदद नहीं मिलती। खूब परिश्रम से पढ़ने के बाद वे इसी नतीजे पर पहुंचते हैं कि, लोग कुछ जान ही नहीं सकते, और कुछ भी समझ लेना इंसान के बस के बाहर की चीज है।

आमतौर से लोग सोचते हैं कि, 'ना-समझी' शब्द का प्रयोग तब किया जाता है जब, मिसाल के लिए आप दस में से नौ चीजें तो समझते हैं, एक नहीं समझ पाते, लेकिन दस चीजों को समझने के चक्कर में हम एक को भी ठीक से नहीं समझ पाते। यदि आप सौ फूलों को पहचानते हैं तो 'जानते' एक को भी नहीं हैं। लोग समझ पाने के लिए कठोर परिश्रम करते हैं, अपने आप को तसल्ली दे लेते हैं कि, वे समझ गए हैं, और बगैर कुछ जाने-समझे मर जाते हैं।

लड़के-लड़कियां अपना बढ़ईगीरी का काम कुछ देर के लिए रोक, नारंगी के पेड़ के तले सुस्ताने बैठ गए और दक्षिण की तरफ आसमान में तैरते बादलों को निहारने लगे।

लोग सोचते हैं कि जब वे धरती से आंखें हटाकर आसमान की तरफ देखते हैं तो उन्हें ईश्वर नजर आता है। वे संतरे के फल को हरी पत्तियों से अलग करते हैं, और फिर कहते हैं कि उन्हें पता है कि, पत्तियां हरी हैं और फल नारंगी। मगर जिस क्षण हम हरे और नारंगी में फर्क की बात करते हैं, असली रंग गायब हो जाते हैं।

लोग इसलिए ऐसा सोच लेते हैं कि, वे चीजों को समझने लगे हैं, कि वे उनकी सुपरिचित हो गई हैं।

यह ज्ञान बिल्कुल सतही होता है। यह ज्ञान कुछ वैसा ही होता है, जैसा उस ज्योतिषी का, जो कुछ ग्रहों और सितारों के नाम जान लेता है। या उस वनस्पति-विज्ञानी का जो कुछ फूल और पत्तियों का वर्गीकरण जानता है, या उस कलाकार जैसा जो हरे और नारंगी रंग में फर्क कर लेता है। इस ज्ञान का यह अर्थ नहीं है कि, आप स्वयं प्रकृति, धरती, आकाश, हरे और नारंगी रंग को जान गए हैं। खगोलशास्त्री, वनस्पति-विज्ञानी तथा कलाकार ने केवल कुछ प्रभाव ग्रहण किए हैं, और हर एक ने अपने दिमागी बक्से में अच्छी व्याख्या कर डाली है। वे जितने ज्यादा बौद्धिक गतिविधियों में उलझते हैं, वे उतने ही ज्यादा प्रकृति से अलग-थलग होते जाते हैं, और उनके लिए कुदरती ढंग से जीना उतना ही मुश्किल होता जाता है।

दु:ख की बात तो यह है कि, अपनी निराधार उद्दंडता के चलते वे प्रकृति को अपनी इच्छानुसार झुकाने की कोशिश भी करते रहते हैं। इंसान प्रकृति के रूपों को नष्ट कर सकता है, लेकिन उनका सृजन नहीं कर सकता। विभेदक दृष्टि जो कि एक खंडित और अपूर्व समझदारी है, वह प्रारंभिक बिंदु है जहां से मानव का ज्ञान आगे बढ़ता है। प्रकृति की पूर्णता को जानने में असमर्थ होने के कारण मानव इससे ज्यादा कुछ नहीं कर पाता कि, वह उसका एक अपूर्ण चित्र रचे, और फिर यह खुशफहमी पालने लगे, कि उसने कुछ प्राकृतिक चीज गढ़ी है।

प्रकृति को जानने के लिए हमें सिर्फ इतना ही करना है कि, हम यह समझ लें कि हम वास्तव में जानते कुछ नहीं, और जानने में समर्थ भी नहीं हैं। इसके बाद ही उससे यह उम्मीद की जा सकती है कि, वह विभेदकारी ज्ञान में अपनी दिलचस्पी खो देगा। जैसे ही वह विभेदकारी ज्ञान छोड़ेगा, अ-विभेदकारी ज्ञान अपने आप उसके भीतर से पैदा होगा। यदि वह जानने के बारे में कभी सोचता ही नहीं, यदि उसे परवाह ही नहीं है कि, वह कुछ जाने तो एक वक्त आएगा जब वह सब समझने लगेगा। उसके सामने अपने अहंकार को त्याग करने, इस विचार को त्यागने कि मानव धरती (प्रकृति) और आसमान (ईश्वर) से अलग कोई हस्ती है, के अलावा और कोई रास्ता ही नहीं है।

'इसका मतलब है चतुर होने की बजाए मूर्ख होना।' मैंने उस युवक को डांटा, जिसके चेहरे पर आत्मसंतुष्टि की समझदारी के भाव दिखलाई दे रहा था। 'यह तुम्हारी आंखों में कैसा भाव है? आदमी बहुत चतुर होने की कोशिश में ही मूर्ख बन जाता है। क्या तुम निश्चित रूप से जानते हो कि, चतुर मूर्ख हो यह मूर्ख किस्म का चतुर लड़का बनने की कोशिश कर रहे हो। तुम न तो चतुर बन सकोगे न बेवकूफ, बस जहां से तहां रह जाओगे। क्या इस समय भी तुम इसी जगह नहीं हो?'

अचानक मुझे खुद पर गुस्सा आया कि, मैं उन्हीं शब्दों को बार-बार दुहरा रहा हूं जौ मौन की कभी बराबरी नहीं कर पाएंगे। और फिर इन शब्दों का मतलब तो मैं खुद भी नहीं समझता था।

शरद ऋतु का सूरज आसमान में ढलने लगा था। पुराने पेड़ के नीचे झुरमुटे के रंग बिखरने लगे थे। समुद्र से लौटती रोशनी उन युवकों की पीठ पर पड़ रही थी। और युवकगण खामोशी के साथ-साथ शाम के भोजन के लिए अपनी झोपड़ियों में लौटने लगे। दरख्तों के साए से होता हुआ मैं भी चुपचाप उनके पीछे हो लिया।

34

कम अक्ल आखिर कौन है?

लोग कहते हैं कि इंसान से ज्यादा बुद्धिमान कोई अन्य प्राणी नहीं होता। अपनी इस अक्ल का इस्तेमाल करते हुए, वही एक मात्र ऐसा प्राणी बन गया है जो परमाणु अस्त्रों का इस्तेमाल करने में समर्थ हो गया है।

अभी उस रोज ओसाका स्टेशन के सामने स्थित प्राकृतिक खाद्य बेचनेवाले स्टोर के प्रमुख महोदय पहाड़ी चढ़कर यहां तक पहुंचे। उनके साथ सात शुभंकर देवताओं की तरह उनके सात साथी भी थे। दोपहर को भूरे चावल की खिचड़ी की दावत के दौरान उनमें से एक सज्जन ने कुछ यों कहा, 'बच्चों में हमेशा कोई एक ऐसा होता है, जिसे दुनिया की कोई चिंता नहीं होती। तथा जो सड़क किनारे पेशाब करते हुए हंस पड़ता है। एक कोई अन्य 'घोड़े पर सवार' का खेल खेलते वक्त हमेशा घोड़ा बना रहता है। और कोई तीसरा हमेशा अपने साथियों को चकमा देते हुए उनका दोपहर का खाना चट कर जाता है। जब भी कक्षा-प्रतिनिधि का चुनाव होता है अध्यापक महोदय बच्चों को बड़ी गंभीरता से अच्छे नेता के गुण बतलाते हुए, निर्णय लेने की क्षमता का महत्व बताते हैं। जब चुनाव होता है तो वह लड़का जो सड़क के किनारे 'पेशाब' करते हंस पड़ता है, चुन लिया जाता है।'

किस्सा सुनकर सब लोग खुश हुए, लेकिन मेरी यह समझ में नहीं आया कि वे लोग हंस क्यूं रहे थे। मुझे लगा, उनका वैसा करना स्वाभाविक ही था।

यदि फायदे या नुकसान के हिसाब से सोचा जाए तो घाटे में रहनेवाला बालक वही होगा जो हमेशा घोड़ा बनता है, लेकिन महानता और मामूलीपन बच्चों पर लागू नहीं होती। शिक्षक के विचार से चालाक बच्चा सबसे विशेष था, लेकिन अन्य बच्चों की नजर में वह चतुर तो था, लेकिन गलत ढंग से वह उनमें से था जो आगे चलकर दूसरों का दमन कर सकता था।

यह सोचना कि जो चलता-पुर्जा है और खुद के हितों की रक्षा कर लेता है, असाधारण है और वैसा होना ही बेहतर है, वयस्कों के मूल्य हैं। मेरे विचार से तो सबसे अच्छे ढंग से वही जीता है जो अपने काम-से-काम रखता है, मनचाहे ढंग से अच्छा खाता-पीता है तथा जिसे किसी किस्म की कोई चिंता नहीं होती। उस व्यक्ति से ज्यादा महान कोई अन्य नहीं हो सकता जो कोई चीज प्राप्त करने की कोशिश नहीं करता।

ईसक की एक नीति-कथा में जब मेंढकों ने ईश्वर से एक राजा प्रदान करने को कहा तो उसने उन्हें एक लकड़ी का लट्ठा भेंट कर दिया। मेंढकों ने उस गूंगे लट्ठे का बड़ा मजाक बनाया, और ईश्वर से कहा कि उन्हें, और भी बड़ा राजा चाहिए। इस पर ईश्वर ने वहां एक बगुला भेज दिया। जैसा कि कहानी में होता है, बगुला सारे मेंढकों को एक-एक कर खा गया।

यदि पंक्ति में सबसे आगे खड़ा होनेवाला ही महान है तो जो पीछे-पीछे चलते हैं उन्हें संघर्ष करना पड़ता है, तकलीफें झेलनी पड़ती हैं। यदि आप किसी सामान्य व्यक्ति को आगे खड़ा कर देते हैं तो

पीछेवालों को आसानी रहती है। लोग सोचते हैं कि जो चतुर और ताकतवर है, वह असाधारण है और इसलिए वे ऐसा प्रधानमंत्री चुनते हैं जो सारे देश को डीजल इंजन की तरह खींचता है।

'प्रधानमंत्री पद के लिए कैसे व्यक्ति को चुना जाना चाहिए?'

'मिट्टी या माधो हो!' मैंने जवाब दिया। 'मेरे ख्याल से 'दारूमासान' (दारूमासान जापान के बच्चों का प्रिय खिलौना है। वास्तव में यह एक बड़ा गुब्बारा है जिसके पेंदे को भारी बना दिया जाता है तथा उसका चेहरा-मोहरा एक ध्यानस्थ साधु जैसा होता है।) सिर्फ से अच्छा कोई नहीं होगा।' मैंने कहा 'इस इतना बेफिक्र आदमी है कि बिना एक शब्द कहें, बरसों तक ध्यान-मग्न रह सकता है। यदि आप उसे धक्का दे दें तो वह एक तरफ लुढ़क जाता है, लेकिन अपनी अ-प्रतिरोध की जिद के कारण वह फिर उठ बैठता है।' दारूमासान सिर्फ आलथी-पालथी मारे निठल्ले नहीं बैठे रहता। यह सोचकर, कि आपको अपने हाथ बंटाने चाहिए, वह उन लोगों को देखकर चुपचाप भौंहे सिकोड़ते रहते हैं जो अपने हाथ बाहर निकालते रहते हैं।'

'यदि आप बिल्कुल कुछ भी नहीं करोगे, तो यह दुनिया कैसे चलेगी? विकास कैसे होगा?'

'विकास की आपको क्या जरूरत है? यदि आर्थिक तरक्की 5 से लेकर 10 प्रतिशत हो जाती है तो क्या सुख भी दुगना हो जाता है? यदि वृद्धि दर शून्य प्रतिशत रहती है तो इसमें क्या गलत है? क्या सादगी से रहने और इत्मीनान से जीने से भी बेहतर और कोई चीज हो सकती है?'

लोग किसी चीज को खोजते हैं, वह कैसे काम करती है यह पता लगाते हैं और उसके लिए प्रकृति का उपयोग करते हैं, और सोचते हैं कि इससे मानवजाति का भला होगा। आज की तारीख में इसका नतीजा यह हुआ कि, हमारी धरती प्रदूषित हो गई है। लोग भ्रमित हो गए हैं और हमने आधुनिक युग की आपा-धापी को आमंत्रित कर लिया है।

अपने इस फार्म पर हम 'कुछ-मत-करो विधि' से खेती करते हैं। पौष्टिक और स्वादिष्ट अनाज सब्जियों तथा नारंगियां खाते हैं। चीजों के मूल स्रोत के नजदीक रहने की एक विशेष सार्थकता और संतोष होता है। जीवन की एक गति होती है जो एक कविता की तरह होती है।

किसान उसी समय से अति व्यस्त हुआ है जब से लोगों ने दुनिया की पड़ताल शुरू की, और यह तय कर लिया कि ऐसा करना 'अच्छा' है तथा हमें 'वैसा' नहीं करना चाहिए। पिछले तीस बरसों के दौरान मेरे अनुसंधान का लक्ष्य रहा है 'यह' या 'वह' नहीं करना। इन तीस बरसों में मैंने यह सीखा है कि, यदि किसान लगभग बिना कुछ किए रहते तो उनकी स्थिति आज से बेहतर होती।

लोग जितना ज्यादा 'करते' हैं उतना ही समाज विकसित होता है तथा उतनी ही ज्यादा समस्याएं खड़ी होती हैं। प्रकृति का लगातार बढ़ता विध्वंस, संसाधनों की बरबादी, मानव की आत्मा की बेचैनी और बिखराव, इन सबका कारण मानव की कुछ-न-कुछ हासिल करने की कोशिश ही रही है। प्रारंभ में प्रगति करनेका न कोई कारण था न ऐसी कोई चीज थी जिसे करना जरूरी ही हो। अब हम उस मुकाम पर आ पहुंचे हैं, जहां हमारे लिए इसके अलावा कोई और चारा नहीं बचा है, कि एक 'आंदोलन' इस

बात के लिए चलाएं कि अब हमें भी कुछ भी करके नहीं दिखाना है।

35

हम जन्म लेते हैं, नर्सरी स्कूल जाने के लिए

हम खेतों में काम कर रहे थे।

एक युवक अपने कंधे पर झोला लटकाए बड़े इत्मीनान से वहां चला आया।

'तुम कहां से आए हो?'

'वहां उधर से।'

'यहां तक पहुंचे कैसे?'

'चल कर आया हूं।'

'यहां किसके लिए आए हो?'

'मैं नहीं जानता।'

यहां जो लोग आते हैं, जिनमें से अधिकांश को अपना नाम वगैरह बतलाने या अपने अतीत की कहानी सुनाने की कोई जल्दी नहीं होती। वे अपने आने के उद्देश्य भी साफ-साफ नहीं बतलाते। चूंकि उनमें से अधिकांश नहीं जानते कि वे क्यों आए हैं, उनके लिए यह सोचना स्वाभाविक ही है।

शुरू से ही इंसान को पता नहीं कि, वह कहां से आया है कि उसे कहां जाना है। यह कहना कि आप अपनी मां के गर्भ से जन्में हैं और एक दिन आपको मिट्टी में मिल जाना है, मात्र एक जीव-वैज्ञानिक व्याख्या है, लेकिन किसी को भी वास्तव में पता नहीं है कि, जन्म के पहले वह क्या था और मृत्यु के बाद उसे किस दुनिया में जाना है।

मानव, वाकई एक दयनीय प्राणी है - न तो उसे अपने पैदा होने के कारण पता है न आंखें मिचने पर किस अनंत की ओर उसे चल पड़ना है, इसका उसे कोई अता-पता है।

अभी उसे रोज मुझे नरकट (घास) की एक टोपी मिल गई, जो शिकोकू के मंदिरों में दर्शनार्थ आए तीर्थ-यात्री वहां छोड़ गए थे। उस टोपी पर लिखा था: 'मूलत: न कोई पूरब, न कोई पश्चिम। दस अनंत दिशाएं।' उसी टोपी को हाथ में थामे मैंने उस युवक से फिर पूछा कि वह कहां से आया है, तब उसने बतलाया कि वह कानाजावा के मंदिर के पुजारी का बेटा है, और चूंकि उसे दिन भर मृतकों के लिए धर्मग्रंथों का पाठ करते रहना मूर्खतापूर्ण लगा, वह अब किसान बनना चाहता है।

न तो पूरब है न पश्चिम। सूरज पूरब में उगता और पश्चिम में अस्त होता है। यह मात्र एक खगोलशास्त्रीय अवलोकन है। यह जान लेना कि - 'आप न पूरब को समझते हैं न पश्चिम' को ही,

अपने आप में सत्य के नजदीक पहुंचना है। सच्चाई तो यह है कि कोई नहीं जानता कि सूरज आता कहां से है।

हमारे जो हजारों धर्मग्रंथ हैं, उनमें से हमें जिसके प्रति कृतज्ञ होना चाहिए वह है हृदयसूत्र, जिसमें सारी महत्वपूर्ण बातें कही गई हैं। इस सूत्र के अनुसार, भगवान बुद्ध ने कहा: 'आकार रिक्तता ही आकार है। पदार्थ और आत्मा एक ही हैं। लेकिन सब कुछ रिक्त है। मानव जिंदा नहीं है, वह मृत भी नहीं, वह न जन्मा है न उसे मरना है, व न बूढ़ा होता है, न बीमार, न व बढ़ता है न घटता है।'

उस रोज मैंने चावल की फसल काटने के बाद पुआल के बड़े से ढेर से टिककर सुस्ताते युवकों से कहां: 'मैं सोच रहा था कि जब वसंत में चावल बोया जाता है तो बीज जिंदा कोंपले बाहर-निकालता है, और अब फसल काटते हुए ऐसा लगता है कि, वह मर रहा है। यही अनुष्ठान साल-दर-साल दुहराया जाता है। इस तथ्य का मतलब यही है कि इस खेत में जीवन-चक्र सतत चलता है, और हर साल होनेवाली मौत ही हर वर्ष होनेवाला जन्म भी है। आप कह सकते हैं कि जो धान हम काट रहे हैं, वह सतत जीवित रहता है।'

इंसान, जिंदगी और मौत को जरा सीमित परिपेक्ष्य में देखता है। इस घास के लिए शरद ऋतु की मृत्यु तथा वसंत के जन्म का क्या अर्थ? लोग सोचते हैं कि जीवन आनंद है तथा मृत्यु दुख, लेकिन चावल का वह बीज जो धरती की गर्भ में छुप कर, वसंत ऋतु में जिस पौधे की कोंपलें बाहर आती हैं, वही पतझड़ में मुरझा जाता है। वह अपने नन्हें केंद्र में अब भी पूर्ण आनंद संजोए हुए है। मृत्यु के साथ जीवन का आनंद भी विदा नहीं होता है। मृत्यु एक क्षणिक संक्रांति (पैसिज) से ज्यादा कुछ भी नहीं है। क्या आप यह नहीं मानेंगे कि यह चावल, जिसमें जीवन का संपूर्ण आनंद निहित है, मृत्यु के दुख से अपरिचित है।

चावल और जौ के साथ जो घटता है, वही लगातार मानव के शरीर में भी होता रहता है। बाल और नाखून रोज बढ़ते हैं, हजारों कोशिकाएं मरती हैं, और उतनी ही फिर से पैदा हो जाती हैं। एक माह पहले जो रक्त धमनियों में दौड़ रहा था, आज दौड़ रहा खून वो नहीं है। जब आप सोचते हैं कि आपके गुण आपके पोतों और परपोतों के शरीरों में विद्यमान रहते हुए आगे जारी रहते जाएंगे, तो आप भी कह सकते हैं कि, आप हर रोज जन्मते और मरते रहने के बावजूद, कई पीढ़ियों तक जिंदा रहेंगे।

यदि इस जीवन-चक्र में भागीदारी होने का आनंद आप रोज अनुभव कर पाते हैं तो इसके बाद आपके लिए कुछ भी जरूरी नहीं रह जाता है। मगर अधिकांश लोग हर रोज बदलती और बीतती जिंदगी का आनंद नहीं उठा पाते। वे उसी जिंदगी से चिपटकर रह जाते हैं, जिसका वे अनुभव कर चुके हैं। और इस आदतन लगाव से ही मौत का डर पैदा होता है।

केवल उस अतीत, जो बीत गया है तथा उस भविष्य की तरफ जो अभी आया ही नहीं है, ध्यान देते हुए हम यह भूल जाते हैं कि, वे इस धरती पर अभी इस वक्त भी जिंदा है। इस भ्रम और उलझन से संघर्ष करते वे अपने जीवन को यों गुजरते देखते हैं, जैसे कोई सपना देख रहा हो।

'यदि जीवन और मृत्यु वास्तविकताएं हैं, तो मानव की तकलीफों से कभी बचा भी जा सकता है?'

'जीवन और मृत्यु जैसी कोई चीज ही नहीं होती।'

'आप ऐसा कैसे कह सकते हैं?'

खुद यह दुनिया ही हमारे अनुभवों के प्रवाह में समस्त पदार्थों की एकात्मकता (यूनिटी) है। लेकिन लोगों के दिमाग प्रकृतिक की घटनाओं को जीवन और मृत्यु यिन और यांग होने या न होने जैसे टुकड़ों में बांट देते हैं। हमारा दिमाग उन्हीं चीजों को संपूर्ण रूप से सच मानता है, जिन्हें हमारी ज्ञानेन्द्रियां अनुभव कर पाती हैं। और ऐसा होने के बाद ही पदार्थ, उन वस्तुओं में बदल जाता है जिन्हें मानव आमतौर से भिन्न रूपों में देखता है।

भौतिक संसार के रूप और जीवन-मृत्यु, स्वास्थ्य और बीमारी दुख और आनंद जैसी अवधारणाएं, सभी इंसानों के मन में उपजती हैं। उक्त सूत्र में जब बुद्ध ने कहा कि, सब कुछ रिक्त है तो वे न केवल मानव की बुद्धि द्वारा निर्मित, अंतर्निहित वास्तविकता को खारिज कर रहे थे, बल्कि वे यह भी घोषित कर रहे थे कि, सारी मानवीय भावनाएं भी भम्रजाल हैं।

'आप का मतलब सभी कुछ भ्रम है - क्या बचता, कुछ भी नहीं।'

'बचता कुछ भी नहीं? स्पष्ट ही रिक्तता की धारणा तो हमारे मन में बची रहती ही है।' मैंने उस व्यक्ति से कहा, 'यदि तुम नहीं जानते कि कहां से आए हो और कहां जा रहे हो, तो इस बारे में निश्चयपूर्वक कैसे कह सकते हो कि, इस वक्त तुम यहां मेरे सामने खड़े हो। या अस्तित्व अर्थहीन नहीं है?'

'.....................'

उस सुबह मैंने एक चार वर्ष की बालिका को अपनी मां से पूछते सुना: 'मैं इस दुनिया में क्यों पैदा हुई? क्या नर्सरी स्कूल जाने के लिए?'

स्वाभाविक ही मां उसे ईमानदारी से यह नहीं कह पाई: 'हां, इसीलिए, और अब जाओ यहां से।' लेकिन आप कह सकते हैं कि, इन दिनों लोग, वाकई नर्सरी स्कूल (बालमंदिर) जाने के लिए ही पैदा होते हैं।

कॉलेज तक बड़ी मेहनत से वे यही जानने के लिए पढ़ते रहते हैं कि, वे कयों जन्म लेते हैं। दर्शनशास्त्री और विद्वान पंडित, इस कोशिश में भले ही अपनी जिंदगियां क्यों न बरबाद कर चुके हों, यदि इस एक ही सवाल का जवाब पा ले, तो अपने आप से संतुष्ट हो जाएंगे।

प्रारंभ में इंसान का कोई उद्देश्य नहीं होता था। अब वह अपने लिए कोई-न-कोई उद्देश्य खड़ा कर लेता है। या जीवन का अर्थ तलाश करने की कोशिश में कई तरह की कशमकशों से दो-चार होता रहता है। यह उस एकल कुश्ती जैसी चीज होती है, जिसमें आप अकेले लड़ते हैं। वास्तव में ऐसा कोई उद्देश्य है ही नहीं जिसके बारे में कोई कुछ सोचे या जिसकी तलाश में चल पड़े। आप बच्चों से पूछिए कि उद्देश्यहीन जीवन निरर्थक है या नहीं, शायद आपको सही जवाब मिल जाए।

लोगों के कष्ट उसी समय से शुरू हो जाते हैं जब वे बालमंदिर जाने लगते हैं। मानव पहले बहुत दुखी प्राणी था, लेकिन उसने खुद पहले यह कठोर दुनिया रची और अब उसमें से बाहर आने के लिए संघर्ष कर रहा है।

प्रकृति में जीवन है, मृत्यु भी है और फिर भी प्रकृति आनंद से भरी है।

मानव समाज में जीवन है, मृत्यु है और लोग दुखों के साथ जीते हैं।

36

यायावर बादल और विज्ञान का भ्रम

आज सुबह-सुबह मैं नदी में संतरे के बक्सों को धो रहा हूं। जैसे ही मैं एक चपटी सी चट्टान पर झुकता हूं, इस शरद ऋतु में नदी की ठंडक महसूस करता हूं। शरद के नीले आसमान की पृष्ठभूमि में सूमाक वृक्ष की लाल पत्तियां निगाहों के सामने उभरती हैं। आकाश के सामने शाखाओं के झूलने से जो यह भव्य दृष्य अचानक दिखत है वह मुझे आत्मविभोर कर देता है।

इस अकस्मात दृष्य में ही अनुभवों का एक पूरा संसार मौजूद है। बहते पानी के साथ समय का बहाव है, दाहिना किनारा है, बांया भी है, धूप भी है और छांव भी, लाल पत्तियां हैं तो नीला आसमान है। प्रकृति के इस मौन पवित्र किताब में सभी कुछ निहित है। और मानव उसमें एक सोचने समझने वाले सरकंडे की तरह खड़ा है।

जैसी ही यह सवाल करता है कि प्रकृति क्या है? तो उसे यह भी पूछना चाहिए कि वह 'क्या' क्या है, तथा क्या है वह मानव भी जो पूछता है कि 'क्या' है? यानी वह इसके साथ ही प्रश्नों की एक अनंत दुनिया में प्रवेश कर जाता है।

उसे कौतुहल से किस चीज ने भर दिया है या उसे जो चीज चौंका गई है वह क्या है, इसकी स्पष्ट समझ पाने की कोशिश करते हुए, उसके सामने दो रास्ते संभव होते हैं। पहला तो यह कि वह खुद अपने भीतर, उस व्यक्ति के भीतर झांके जो यह सवाल पूछ रहा है कि, 'प्रकृति क्या है?'

दूसरा रास्ता यह है कि वह मनुष्य से अलग प्रकृति की पड़ताल करें।

पहला रास्ता उसे दर्शन और धर्म की दुनिया में ले जाता है। बगैर सोचे-समझे देखने पर यह लगना अ-स्वाभाविक नहीं है कि, पानी ऊपर से नीचे की तरफ बह रहा है, लेकिन यदि उसे ऐसा नजर आता है कि, पानी स्थिर है और वहां बना पुल उसके पास से गुजर रहा है तो वह भी गलत नहीं होगा।

दूसरी तरफ, दूसरे रास्ते पर चलते हुए यदि इस दृष्य को हम टुकड़ों-टुकड़ों में प्रकृति के विभिन्न व्यापारों, यानी पानी की गति, लहरों, हवा तथा सफेद बादलों में बांट दे, तो वे सब परीक्षण की वस्तु बन, उन नये-नये सवालों में बदलते जाएंगे, जो हर दिशा में अनंतरूप से फैलते चले जाएंगे। यह रास्ता

विज्ञान का है।

पहले दुनिया बड़ी सहज हुआ करती थी। उपवनों से गुजरते हुए ओस की बूंदों से आप भीग गए हैं, इस बात की तरफ आप का सिर्फ ध्यान यों ही चला जाता था। मगर उस क्षण से ही, जब लोगों ने ओस की बूंद की वैज्ञानिक व्याख्या करने का उपक्रम शुरू किया, उन्होंने खुद को बुद्धि के बेइंतहा नर्क में झोंक दिया है।

पानी के अणु, ऑक्सीजन और हाईड्रोजन के परमाणु से बने हैं। पहले लोग सोचते थे कि पदार्थ का सबसे छोटा कण अणु होता है, बाद में उन्हें पता चला कि परमाणु के भीतर भी एक नाभि होती है।, और अब पता चला कि उस नाभि में भी कुछ और छोटे-छोटे हिस्से होते हैं। इन नाभिकीय कणों की भी सैकड़ों भिन्न-भिन्न किस्में होती हैं, और कोई नहीं जानता कि, इस सूक्ष्म दुनिया की पड़ताल कहां जाकर रुकेगी।

कहा जाता है कि परमाणु के भीतर जिस तरह के इलेक्ट्रान अति तीव्र गति से घूमते हैं, वह ठीक वैसे ही है जैसे आकाशगंगा में धूमकेतुओं की होती है। परमाणु भौतिकविद् के लिए तो सूक्ष्म कण की दुनिया भी उतनी ही विस्तृत है जितना ही खुद ब्रहमाण्ड है। इसके बाद हमें यह भी बतलाया गया है कि, जिस आकाशगंगा में हम रहते हैं उसके अलावा भी असंख्य आकाशगंगाएं हैं। तो, खगोलशास्त्री के लिए तो हमारी अपनी पूरी आकाशगंगा भी आकार में बहुत ही छोटी हो जाती है।

सच बात तो यह है कि - वे लोग, जो सोचते हैं कि जल की एक बूंद बिल्कुल सहज सी चीज है या चट्टान अपनी जगह पर जमी हुई स्थिर चीज है तो, वे अज्ञानी, लेकिन सुखी मूर्ख हैं। और वह वैज्ञानिक जो जानता है कि पानी की एक बूंद में पूरा विश्व निहित है, तथा जड़ नजर आने वाली चट्टान भी वास्तव में रॉकेटों की गति से चलने वाले मूल-कणों की सक्रिय दुनिया है, जरा होशियार किस्म का मूर्ख है। सहजभाव से देखें तो यह दुनिया वास्तविक और सुलभ है, लेकिन उसकी जटिलता के साथ उसे देखें तो वह भयावह ढंग से अमूर्त तथा दूर प्रतीत होगी।

अंतरिक्ष यात्रियों द्वारा चांद से लाए गए पत्थरों को देखकर हर्षित हुए वैज्ञानिकों की जानकारी भी चांद के बारे में उतनी ही है, जितनी उन बच्चों की जो गाते हैं, 'चंदामामा तुम्हारी उम्र कितनी है?' निस्तब्ध सरोवर की पूर्णिमा में चंद्रमा का प्रतिबिम्ब देखते हुए कवि बाशो प्रकृति के चमत्कार को कुछ हद तक समझ पाया था। अपने अंतरिक्ष-जूतों से चांद की सतह को रौंदते हुए अंतरिक्ष विज्ञानियों ने मात्र यही किया है, उन्होंने लाखों-करोड़ों प्रेमियों और बच्चों के मन में चांद की जो पवित्र व भव्य छवि थी, उसे थोड़ा कलंकित कर दिया है।

और जो लोग सोचते हैं कि, विज्ञान मानव के लिए बड़ा भारी वरदान है उसका क्या कारण है?

पहले इसी गांव में हाथ से घुमाए जाने वाली पत्थर की चक्की से अनाज पीसा जाता था। बाद में नदी के प्रवाह का उपयोग करनेवाली पनचक्की बनी, जिसकी गति पत्थर की चक्की से कहीं ज्यादा थी। फिर कुछ बरस पहले पनबिजली पैदा करने के लिए एक बांध बांधा गया, और उस बिजली से बिजली की चक्की बनाई गई।

आप क्या सोचते हैं, यह प्रगति मानव के हित में क्या काम करती है? चावल को पीस कर आटा बनाने के पहले उसे एकदम सफेद-चिट्टा बनाने के लिए पॉलिश किया जाता है। इसका मतलब होता है दाने को झटकारकर उसके जीवाणु और चोकर को, जो कि अच्छे स्वास्थ्य के आधार होते हैं, उससे अलगकर बचे-खुचे को संजोया जाता है। और इस उच्च 'तकनीक' का नतीजा यह है कि पूरे, संपूर्ण अनाज के दाने को अलग-अलग चीजों में बदल दिया जाता है। यदि बहुत ही आसानी से पच जानेवाले सफेद चावल को हम अपना प्रमुख आहार बना लेते हैं तो उसकी पौष्टिकता घट जाती है, और अन्य पूरक आहार जरूरी हो जाते हैं। पनचक्की और आटा चक्कियां जो हमारे पेट और आंतों का काम करने लगी हैं, उससे हमारे शरीर के अंग सुस्त पड़ गए हैं।

यही बात ईंधन के मामले में भी हो रही है। खनिज तेल धरती की गर्भ में पड़े हुए लाखों साल पुराने पौधों के रूपांतरित होने से बनता है। यह पदार्थ मरूस्थलों में खोदकर निकाला जाता है। पाईप लाइन के जरिए बंदरगाहों तक पहुंचाकर जहाजों पर लद कर जापान आता है, और वहां शोधन संयंत्रों (रिफायनरी) द्वारा केरोसीन और पेट्रोल में बदलता है।

अब आप किसे अधिक तेज और गर्मी देने वाला ईंधन मानेंगे: केरोसीन को या अपने घर के सामने उग रहे चीड़ और देवदार की सूखी डालियों को?

दोनों ईंधन एक पौधों से ही बने हैं। फर्क यह है कि केरोसीन को यहां तक आने के लिए कई गुना ज्यादा फासला तय किया है।

अब लोग कह रहे हैं कि, जीवाष्म ईंधन भी काफी नहीं है। इसलिए हमें परमाणु ऊर्जा विकसित करनी चाहिए। दुर्लभ यूरेनियम को खोजना, फिर उसे दबाकर रेडियोधर्मी ईंधन में बदलना तथा परमाणु भट्टी में जलाना आपको ज्यादा आसान लगता है या सूखे पत्तों को दियासलाई दिखाकर जलाना। इतनी ही नहीं अंगीठी की आग के बाद सिर्फ राख ही बचती है, जबकि रेडियोधर्मी कूड़े का खतरा कई हजारों साल तक बना रहता है।

यही सिद्धांत खेती पर भी लागू होता है। पानी भरे खेत में आप एक नाजुक और मोटा सा ऐसा पौधा भी उगा सकते हैं जिसे कीड़े और बीमारियां आसानी से लग जाती हैं। यदि आप कथित 'सुधरी हुई' किस्मों का उपयोग करते हैं तो आपको कीटनाशकों और उर्वरकों का भी सहारा लेना पड़ता है।

दूसरी तरफ यदि आप स्वस्थ्य वातावरण में छोटा और हष्टपुष्ट पौधा उगाते हैं तो इन रसायनों की जरूररत ही नहीं रह जाती है।

पानी भरे चावल के खेत को हल या ट्रैक्टर से एक बार जोत दीजिए, और मिट्टी में ऑक्सीजन की मात्रा घट जाएगी, मिट्टी की संरचना टूट-फूट जाएगी, तथा फिर वह सख्त और बेजान हो जाएगी। एक बार ऐसा होने के बाद जुताई के द्वारा मिट्टी को पलटना हर साल जरूरी हो जाता है।

लेकिन यदि आप कोई ऐसी विधि अपनाते हैं जिसमें धरती प्राकृतिक रूप से चीजें उगाई जाती हैं, तो हल या जुताई मशीनों की कोई जरूरत ही नहीं रह जाती।

मिट्टी के भीतर के जैव पदार्थों और सूक्ष्म जीवाणुओं को एक बार जला डालने के बाद, तेजी से क्रियाशील होने वाले उर्वरकों का उपयोग जरूरी हो जाता है। यदि रासायनिक उर्वरकों का उपयोग किया जाता है तो चावल का पौधा तेजी से और खूब ऊंचा बढ़ता है। लेकिन उसी तेजी के साथ खरपतवार भी बढ़ती है। तब शाकनाशी (हरबिसाइड्स) का प्रयोग किया जाता है, और सोच लिया जाता है कि इससे खूब लाभ होगा।

लेकिन यदि अनाज के साथ बन मेथी भी बो दी जाती है, और पौधों का सारा पुआल और बचे जैविक पदार्थ खाद-मिट्टी के रूप में खेत की सतह पर वापस डाल दिए जाते हैं तो आप अच्छी फसलें बगैर शाकनाशियों, रासायनिक उर्वरकों या तैयार की गई खाद के ही ले सकते हैं।

खेती में बहुत कम ऐसी चीजें हैं, जिनके उपयोग को टाला न जा सके। तैयार की हुई खाद, शाकनाशी, कीटनाशक दवाएं, मशीनें सब गैरजरूरी होते हैं। लेकिन यदि आप ऐसे हालात पैदा कर दें कि, ये आवश्यक बन जाएं तो आपको विज्ञान की ताकत का सहारा लेना पड़ता है।

अपने खेतों के जरिए मैंने कर दिखलाया कि प्राकृतिक कृषि के जरिए भी उतनी ही पैदावार ली जा सकती है जितनी आधुनिक वैज्ञानिक विधियों की मदद से ली जाती है। यदि बिना सक्रिय काम किए खेती के नतीजे वैज्ञानिक कृषि के जैसे ही रहते हैं, और श्रम तथा संसाधन पर भी निवेश नाम-मात्र का ही होता है, तो फिर वैज्ञानिक प्राद्योगिकी से आखिर क्या फायदा है?

37

सापेक्षता का सिद्धांत

शरद ऋतु की खिली धूप में, बाहर का आसमान तथा आसपास के खेतों पर एक खोजी नजर डालते हुए मैं चकित रह गया। एक मेरे खेत को छोड़, हर खेत में कटाई की मशीनें या कम्बाइनें चल रही थीं। पिछले तीस बरस में इस गांव में इतना बदलाव आ गया है कि, उसे पहचाना ही नहीं जा सकता।

जैसा कि उम्मीद की जा सकती है, पहाड़ी पर रहनेवाले युवाओं को इस मेकेनाइजेशन से कोई शिकायत नजर नहीं आती। पुराने जमाने की हंसिया से शांति से फसल काटना उन्हें ज्यादा रुचिकर लगता है।

जब रात के समय हम रात का खाना खाने के बाद चाय पी रहे थे, तो मुझे याद आया कि बहुत पहले इस गांव में जब किसान लोग अपने खेतों को हाथों से जोतते थे। एक आदमी ने इसके लिए बैलों का उपयोग शुरू कर दिया। उसे इस बात पर बड़ा फर्ख महसूस हुआ कि वह जोतने के परिश्रम का काम बहुत आसानी और तेजी से निपटा रहा था। बीस साल पहले जब पहली बार जुताई की मशीन का आगमन हुआ, तो किसानों ने मिलकर बड़ी गंभीरता से इस बात पर बहस की कि, बैल और मशीन में बेहतर क्या है। दो-तीन बरसों में ही उन्होंनें देख लिया कि मशीन से जुताई तेजी से होती है, और समय की बचत और सुविधा के अलावा और कोई अन्य चीज पर विचार किए उन्होंने अपने खींचनेवाले मवेशियों को छोड़ दिया। उनके लिए मतलब की बात सिर्फ इतनी ही थी कि, वे अपने पड़ोसी किसान

से कितना पहले अपना काम निपटा लेते हैं।

हमारे किसान यह नहीं समझ पा रहे हैं कि, आधुनिक कृषि की गति और कुशलता की गणित में वे एक घटक बनकर रह गए हैं। उन्होंने सारा हिसाब-किताब लगाने का काम खेती-उपकरण विक्रेता पर छोड़ दिया है।

पहले लोग रात में तारों से भरे आकाश को देखे और इस विश्व की विराटता को देख दांतो तले उंगली दबा लेते थे। अब समय और स्थान संबंधी प्रश्नों पर विचार करने की जिम्मेदारी वैज्ञानिकों को सौंप दी गई है।

लोग कहते हैं कि - आईनस्टीन को भौतिका का नोबेल पुरस्कार उनके सापेक्षता सिद्धांत की जटिलता के कारण दिया गया था। यदि उनके सिद्धांत ने सीधे स्पष्ट शब्दों में दुनिया की सापेक्षता की स्थिति को समझाकर मानवता को काल और स्थान के बंधनों से मुक्त कर, दुनिया को पहले से ज्यादा सुखद और शांतिप्रिय बना दिया होता तो, उसकी सराहना की जा सकती थी। लेकिन उनकी व्याख्या इतनी हक्का-बक्का कर देने वाली थी, और चूंकि उसके कारण लोग सोचने लगे कि, यह दुनिया इतनी जटिल है कि उसे समझा नहीं जा सकता। बेहतर तो यह होता हक उनके पुरस्कार के साथ दिए गए प्रशस्ती पत्र में यह लिखा जाता कि यह सम्मान उन्हें 'मानव मन की शांति भंग करने' के लिए दिया जा रहा है।

प्रकृति में सापेक्षता की दुनिया का अस्तित्व ही नहीं है। सापेक्षता के विचार द्वारा मानव के बुद्धिगत अनुभवों को एक ढांचा प्रदान कर दिया गया है। मानव जैसे प्राणी अ-विभाजित वास्तविकता के संसार में जीते हैं। बुद्धि के सापेक्ष संसार में, व्यक्ति जब तक रहता है वह उस काल व समय को नहीं महसूस कर सकता, जो समय तथा स्थान से भी परे की चीज है।

'आप लोग शायद सोच रहे होंगे कि, आखिर मैं हमेशा वैज्ञानिकों के पीछे क्यों पड़ा रहता हूं।' मैंने चाय की एक घूंट भरने के लिए रुकते हुए कहा। युवकों ने मुस्कुराते हुए ऊपर नजरें उठायीं, उनके चेहरे अलाव की आग की रोशनी में दमक रहे थे।' यह इसलिए कि समाज में वैज्ञानिकों की भूमिका वही है जो कि आपके खुद के दिमागों में भेदभाव (वर्णभेद - जातिभेद) बरतनेवालों की है।

38

युद्ध और शांति से मुक्त एक गांव

सर्प अपने मुंह में एक मेंढक को झपटकर हरी घास में रेंग जाता है। इसे देख एक बालिका चीख पड़ती है। एक निडर लड़का अपनी घृणा की भावना व्यक्त करते हुए सर्प की तरफ एक पत्थर उछाल देता है। अन्य लोग हंस पड़ते हैं। मैं पत्थर उछालने वाले लड़की को तरफ मुड़कर उससे पूछता हूं, 'तुम्हारे खयाल में, तुम इससे क्या हासिल कर पाओगे?'

बाज सर्प का शिकार करता है। भेड़िया बाज पर हमला करता है, और मानव उसे मार कर खुद तपेदिक का शिकार हो मर जाता है। मानव के पार्थिव शरीर में कीटाणु पनपते हैं, और न जीवाणुओं की गतिविधियों से जो पोषक तत्व निर्मित होते हैं, उनसे अन्य प्राणी, घास तथा वृक्ष फलते-फूलते हैं। वृक्षों

पर फिर कीड़े हमला करते हैं, और इन कीड़ों को मेंढक खा जाते हैं।

प्राणी, पौधे, सूक्ष्म जीवाणु सभी जीवन-चक्र के अंग हैं। एक उपयुक्त संतुलन बनाए रखते हुए वे प्राकृतिक रूप से नियमित जीवन जीते हैं। लोग चाहें तो इस दुनिया को ताकतवर द्वारा कमजोर पर हावी होने या एक दूसरे को फायदा पहुंचाते हुए सहअस्तित्व का नियम मान सकते हैं। दोनों ही तरह से यह एक ऐसी मनमानी व्याख्या है, जिसमें गर्म हवाएं चलती हैं, ऊंची-ऊंची तरंगे उठती हैं, अव्यवस्था और भ्रम पैदा होते हैं।

प्रौढ़ लोग सोचते हैं कि मेंढक हमारी दया का पात्र है, और उसके मरने पर उनके मन में उसके प्रति करूणा तथा सर्प के प्रति तिरस्कार उपजता है। यह भावना हमें स्वाभाविक प्रतिक्रिया लग सकती है। लेकिन क्या वास्तव में यह सब वैसा ही है जैसा हम उसके बारे में सोच रहे हैं।

एक युवक बोला: यदि जीवन को हम एक ऐसी प्रतियोगिता के रूप में देखें, जिसमें ताकतवर, कमजोर को खा जाता है, तो यह धरती विनाश और मारकाट का नर्क ही बन जाती है। लेकिन ताकतवर जी सके इसके लिए कमजोर का बलिदान जरूरी है। जीत ताकतवर की ही हो, वही जिंदा रहे, तथा कमजोर मर जाए, यह तो प्रकृति का नियम ही है। लाखों साल का समय बीतने के बाद, इस समय धरती पर जो लोग रह रहे हैं, वे अस्तित्व के संघर्ष में विजयी रहे हैं। आप कह सकते हैं कि योग्यतम का ही टिक पाना यह प्रकृति द्वारा तय की गई नियति है।'

यह दूसरा युवक कहने लगा: 'हां जीतनेवालों को तो यह ऐसा ही लगता है। मेरे हिसाब से तो यह दुनिया सहअस्तित्व और परस्पर लाभ पहुंचानेवाली प्रणाली है। इस खेत में अनाज के पौधों में मेथी, कई किस्मों की घास तथा खरपतवार एक-दूसरे के लिए लाभप्रद जिंदगियां जी रहे हैं। लताएं पेड़ों से लिपट जाती हैं। कई और हैं जो कि वृक्षों के तनों और शाखों के सहारे जीती हैं। फर्न की झाड़ियां ऊंचे दरख्तों के शामियाने के तले रहती हैं। मेंढक, पौधे, कीड़े, छोटे प्राणी, जीवाणु, फफूंद, हर जीव की आवश्यक भूमिका होती है, और वे सभी एक-दूसरे के अस्तित्व से लाभान्वित होते हैं।

तीसरे ने कहा, 'दुनिया में दोनों ही बातें होती हैं : ताकतवर कमजोर को परास्त करके जीता है, और इन दोनों के बीच सहयोग भी होता है। जो ताकतवर है वे उनकी जरूरत जितना ही भोजन प्राप्त करते हैं। यद्यपि वे दूसरे प्राणियों पर हमला करते हैं, उनके ऐसा करते हुए भी प्रकृति का संतुलन बना रहता है। प्रकृति की इच्छा एक ऐसा लौह-नियम है, जो इस धरती पर शांति और व्यवस्था बनाए रखती है।'

तीन लोग और तीन दृष्टिकोण। मैंने इन तीनों दृष्टिकोणों से सहमत होने से साफ इंकार कर दिया।

यह दुनिया खुद भी यह नहीं पूछती है कि, प्रतियोगिता के सिद्धांत पर आधारित है या सहयोग के। जब हम मानवीय बुद्धि के सापेक्ष परिपेक्ष्य से चीजों को देखते हैं, तभी हमें कोई कमजोर तो कोई ताकतवर या कोई बड़ा और कोई छोटा नजर आता है।

अब इनमें से तो किसी को संदेह नहीं है कि, इस सापेक्ष दृष्टिकोण का अस्तित्व है, लेकिन यदि हम यह मानें कि मानवीय धारणाओं की सापेक्षता गलत है, मसलन कुछ बड़ा-छोटा नहीं होता है, न कोई

ऊपर है न कोई नीचे - यदि ह म कहें कि ऐसा कोई दृष्टिकोण ही नहीं है, तो मानव-मूल्य और निर्णय बुद्धि ही चौपट हो जाएंगे।

'क्या इस दुनिया को इस ढंग से देखना मात्र कल्पना की उड़ान नहीं है, वास्तविकताओं में तो छोटे देश हैं और बड़े देश हैं, गरीबी है और सम्पन्नता भी, कमजोर और ताकतवर हैं, तो फिर विवाद और झगड़े भी होंगे, और यदि वे हैं तो हारने और जीतने वाले भी होंगे। क्या आप बल्कि ऐसा नहीं कह सकते कि, यह सापेक्ष सोच तथा उससे उपजनेवाली भावनाएं भी इसलिए स्वाभाविक भी हैं, और वे मानव को प्राप्त एक विशिष्ट वरदान भी हैं।'

अन्य प्राणी लड़ते हैं लेकिन युद्ध नहीं करते। यदि आप कह रहे हैं कि युद्ध करना जो कि कमजोर और ताकतवर होने के विचार पर आधारित है, मानव को प्राप्त एक विशिष्ट वरदान है तो यह जीवन का एक बेतुका नाटक ही है, और इस ढोंग या तमाशे को ढोंग न समझ पाने में ही मानव की त्रासदी निहित है।

एक ऐसी दुनिया, जिसमें न कोई अंतरविरोध हो न भेदभाव, में शांति के साथ केवल बच्चे रहते हैं। वे अंधेरा भी देखते हैं, रोशनी भी, कमजोर भी देखते हैं तथा ताकतवर को भी। लेकिन उनके बारे में अपनी कोई राय नहीं रखते। उसे सर्प और मेंढक का अलग अस्तित्व तो नजर आता है, लेकिन उसमें ताकतवर या कमजोर की समझ नहीं होती। जीवन का मूल आनंद तो वह महसूस करता है, लेकिन मौत का डर अभी उसमं पैदा नहीं हुआ होता।

प्रौढ़ों की निगाह में जो प्रेम और घृणा पैदा हो जाती है, वे मूलत: दो अलग चीजें नहीं थीं। वे एक ही चीज के सामने और पीछे से नजर आने वाले दो पहलू हैं, प्रेम ही नफरत का सत्व होता है। यदि आप प्रेम के सिक्के को पलट दें तो वह नफरत में बदल जाता है। केवल पार्श्व-रहितता (नो-एस्पैक्ट) के समूचे विश्व में प्रवेश करने के बाद ही, आपके लिए यह संभव होता है, कि आप इस दुनिया के दोगलेपन के चक्कर में पड़ने से बच जाएं।

लोग स्वयं और अन्य में भेद करते हैं। इससे जो कशमकश पैदा होती है, उसके चलते हुए वे एक-दूसरे पर, टकराव भड़काने का आरोप लगाते हैं। यह चीजें वैसी ही हैं कि आप ताली बजाएं और फिर बहस करने लगें कि आवाज किसने पैदा की, बायीं या दायीं हथेली ने।

सभी विवादों में न कोई सही होता है न कोई गलत, न कोई अच्छा होता है न बुरा। सारे भेद एक साथ पैदा होते हैं और वे सभी गलत होते हैं।

कोई भी किलेबंदी शुरू से ही गलत होती है। हालांकि किला बनाने वाला, बहाना यही बनाता है कि, वह नगर की सुरक्षा के लिए है। वह किला उस शासक के व्यक्तित्व का परिणाम होता है, और वह आसपास के इलाके पर अपनी दादागिरी का प्रदर्शन करता है। यह कहते हुए कि उसे बाहरी आक्रमण का डर है, तथा उसने किलाबंदी शहर की रक्षा के लिए की है, यह दादा हथियार इकट्ठा कर के शस्त्रागार पर ताला ठोक देता है।

प्रतिरक्षा के इंतजाम के साथ ही आक्रमण की शुरुआत हो जाती है। सुरक्षा के लिए जमा किए गए हथियार हमेशा युद्ध भड़काने का बहाना बनते हैं। युद्ध की तबाही, यह मैं हूं, वह दूसरा है, मैं कमजोर हूं, यह प्रतिरक्षा है, यह आक्रमण है जैसे बेमानी भेदभावों को पैदा करने से ही आती है।

शांति का मार्ग एक यही है कि सभी लोग सापेक्ष सोच के किले द्वार से अलग हटकर बगीचों से गुजरते हुए अ-क्रियाशील प्रकृति के केंद्र में प्रवेश करें, यानी बजाए तलवार के आप अपने हंसिए को धार चढ़ाएं।

जहां पुराने जमाने के किसान शांतिप्रिय लोग हुआ करते थे, वे अब कभी ऑस्ट्रेलिया के साथ मांस को लेकर उलझते हैं, तो कभी रूस के साथ मछली के बारे में विवाद खड़ा कर रहे होते हैं, तो कभी गेहूं और सोयाबीन के लिए अमरीका का मुंह ताकते हैं।

मुझे ऐसा लगता है कि हम जापानी लोग एक बड़े पेड़ की छांव तले रह रहे हैं, और आंधी-तूफान के समय किसी बड़े दरख्त के नीचे खड़े रहने से ज्यादा खतरनाक और कोई अन्य चीज नहीं हो सकती, और किसी 'परमाणु-छतरी' के नीचे आसरा लेना तो सबसे बड़ी नादानी है, क्योंकि आगामी युद्ध में पहला निशाना इसी छतरी को बनाया जाएगा। इन दिनों हम इस छतरी के नीचे अपने खेत जोत रहे हैं। मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि संकट हमारी तरफ बाहर और भीतर दोनों से बढ़ा चला आ रहा है।

अच्छा हमारे लिए यही होगा कि हम इस 'बाहरी' और 'भीतरी' के विचारों से ही छुटकारा पा लें। दुनिया में सर्वत्र किसान मूलत: किसान ही हैं। हम कह सकते हैं कि, शांति की कुंजी भी धरती के निकट ही कहीं मौजूद है।

39

एक तिनके से आई क्रांति

इन पहाड़ी कुटियों में आकर रहनेवालों में कुछ युवा ऐसे भी हैं, जो शरीर और मन से कमजोर होने के कारण सारी उम्मीदें खो चुके हैं। मैं एक ऐसा बूढ़ा किसान हूं, जिसे यही अफसोस है कि, वह इन्हें एक जोड़ी चप्पलें भी मुहइया नहीं करा सकता।

लेकिन एक चीज फिर भी मेरे पास ऐसी है, जो मैं उन्हें दे सकता हूं।

वह है पुआल का एक तिनका।

मैंने झोपड़ी के सामने पड़ा, एक मुट्ठी भर पुआल उठाया और कहा, 'इस एक तिनके से क्रांति की शुरुआत हो सकती है।'

'इस वक्त जब कि मानव जाति विनाश के कगार पर पहुंच गई है, क्या आप अब भी इस तिनके का सहारा लेकर बच जाने की उम्मीद कर रहे हैं?' अपनी आवाज में तनिक कड़वाहट लिए एक युवक ने पूछा।

यह तिनका छोटा और नाजुक नजर आता है, और अधिकांश लोगों को अहसास नहीं है कि, वह वजन में कितना भारी है। यदि लोगों को इस तिनके का वास्तविक मूल्य मालूम हो जाए तो उससे एक ऐसी मानवीय क्रांति आ जाएगी, जिसमें इस देश और विश्व को हिला देने की पर्याप्त ताकत होगी।

जब मैं छोटा बच्चा था, उन दिनों इनुयोज दर्रे के पास एक आदमी रहता था। ऐसा लगता था कि उसके पास पहाड़ी पर से कोयला, घोड़े पर लादकर गुंजू के बंदरगाह तक (कोई दो मील)पहुंचाने के अलावा कोई काम नहीं था। इसके बावजूद वह बहुत अमीर हो गया। आप लोग पूछेंगे कि, यह भला कैसे हुआ। तो लोग आपको बतलाएंगे कि वास्तव में वह व्यक्ति बंदरगाह से वापस लौटते हुए पुआल से बनी, फेंक दी गई घोड़ों की नालों के साथ, सड़क के किनारे से लीद भी बटोर लेता, और ले जाकर दोनों को अपने खेत में बिखेर देता था। इस भले मानस के जीवन का उद्देश्य वाक्य था, 'पुआल के हरेक तिनके को महत्पपूर्ण मानो, और जिंदगी में बिना काम के एक भी कदम मत उठाओ।' बस इसी ने उसे एक अमीर आदमी बना दिया।

'यदि आप पुआल को जला दें तो भी मेरे खयाल से, उससे वह चिंगारी नहीं निकलेगी जिससे किसी इंकलाब की शुरुआत हो सके।'

बगीचे के पेड़ों में से होकर मध्यम बयार बह रही थी, और हरी पत्तियों में सूर्य की किरणें झिलमिला रही थीं। मैंने चावल की खेती में पुआल उपयोग के बारे में बातचीत शुरू की।

इस बात को अब चालीस बरस हो गए, जब मैंने महसूस किया था कि, चावल और जौ की खेती के लिए पुआल कितना महत्वपूर्ण होता है। इन दिनों कोची प्रक्षेत्र में कई बरसों से बेकार पड़े हुए चावल के एक खेत के करीब से गुजरते हुए मैंने देखा कि, खेत में उगे ढेर से झाड़-झंकार के बीच धान का एक नया लेकिन स्वस्थ्य पौधा मजे से उग रहा था। इसी दिशा में बरसों काम करने के बाद ही मैंने चावल और जौ की खेती की एक बिल्कुल अभिनव विधि पेश की।

यह सोचकर कि यह खेती की एक प्राकृतिक और क्रांतिकारी विधि है, मैंने इसके बारे में किताबों और पत्र-पत्रिकाओं में लिखा तथा रेडियो और टेलिविजन पर अनेक बार बोला भी।

देखने-सुनने में यह बड़ी सरल चीज लगती है, लेकिन पुआल के उपयोग के बारे में किसानों का सोच इतना रूढ़ हो चुका है कि, इस बात की संभावना कम ही है कि वे किसी भी बदलाव को आसानी से अपना लेंगे। ताजा कटे पुआल को खेतों में फैलाना काफी जोखिम भरा है क्योंकि चावल की डंठलों और दानों में अक्सर कीड़े लगे रहते हैं। अतीत में ये बीमारियां काफी नुकसान कर चुकी हैं, और किसान जो पुआल को जैसा-का-तैसा खेत में डालने की बजाए उसका खाद बनाकर डालते हैं, उसका मुख्य कारण यही है। बहुत समय पहले भी घुन लगने की बीमारी की रोक-थाम के लिए पुआल को बड़ी सावधानी से ठिकाने लगाया जाता था, और इस प्रक्रिया में कई बार उसे जला भी दिया जाता था। होकारडो प्रांत में एक वक्त ऐसा भी था जब थोक के भाव में पुआल जलाने के बारे में कानून तक बने हुए थे।

डंठल में सुराख करने वाले कीड़े भी, सर्दियां बिताने के लिए पुआल में प्रवेश कर जाते हैं। इस बीमारी को फैलने से बचाने के लिए किसान लोग पूरी सर्दियों भर पुआल को सड़ाकर उसका खाद

बनाते, और वसंत आने पर ही उसे खेतों में डालते थे। इसी तरीके से जापान के किसान अपने खेतों को हमेशा साफ-सुथरा बनाए रखते हैं। उनके दैनंदिन तजुर्बे के आधार पर उन्होंने यह विचार बना लिया था कि, यदि वे अपने खेतों में पुआल यों ही बिखरा पड़ा रहने देंगे तो उनकी इस लापरवाही के लिए भगवान उन्हें दंडित करेगा।

बरसों तक परीक्षण करने के बाद अब तकनीकी विशेषज्ञों ने मेरी इस विचारधारा की पुष्टि की है कि बीज बोने के छह महीने पहले खेतों में पुआल बिछाना पूरी तरह बेकार है। इस चीज ने इस विषय पर पुराने सभी विचारों को पलटकर रख दिया। लेकिन अभी भी किसानों को पुआल को इस ढंग से उपयोग करने के विचार को अपनाने में बहुत समय लगनेवाला है।

सर्दियों में किसान खाद निर्माण की मात्रा बढ़ाने की कोशिश में लगे हैं। कृषि मंत्रालय खाद उत्पादन बढ़ाने के लिए नकद प्रोत्साहन देता है, और हर साल इसकी प्रतियोगिताएं और नुमाइशें आयोजित की जाती रही हैं। किसान कचरे की खाद को एक तरह से मिट्‌टी का संरक्षक देवता मानने लगे हैं। अब एक बार फिर से अधिक खाद बनाओ अभियान शुरू हुआ है। केंचुओं और 'खाद प्रारंभकों' की मदद से ज्यादा-से-ज्यादा खाद बनाने पर जोर दिया जा रहा है। मेरे इस सुझाव को कि तैयार की हुई खाद का उपयोग गैर-जरूरी है, स्वीकार किए जाने का कोई कारण उन्हें फिलहाल नजर नहीं आ रहा है। उनके गले यह बात उतरना मुश्किल है कि, आपका सिर्फ ताजा, बिना कटा पुआल ही खेतों में बिखेर देना काफी होगा।

टोकियो जाते हुए रेल की खिड़की में से खेतों को देखते हुए मैंने जापान के देहाती माहौल में आए बदलाव को महसूस किया है। जाड़े के मौसम में इन खेतों में पिछले दस सालों से आए परिवर्तन को देख मैं गुस्से से भर जाता हूं। अब वहां आपको हरी बार्ली (जौ) चीनी दूधिया तथा फूलते रेपसीड के साफ-सुथरे, हरे लहलहाते खेत नहीं नजर नहीं आते। उनकी जगह आपको उस अधजले पुआल के ढेर नजर आते हैं, जिन्हें वहां वर्षा में भीगने के लिए छोड़ दिया गया है। इस पुआल की जिस तरह उपेक्षा की जा रही है वह आधुनिक खेती में चल रही गड़बड़ी को प्रमाणित करती है। इन खेतों का बंजरपन बतलाता है कि, किसान की आत्मा भी बंजर को गई है। वह सरकार में बैठे नेताओं की जवाबदारी के लिए भी एक चुनौती है, और साफ इंगित करता है कि, समझदारी भरी कृषि नीतियां पूरी तरह गायब हैं।

वह व्यक्ति जो कई बरस पहले जाड़े की फसलों के लिए 'दया-मृत्यु' की बात कर रहा था, तथा जिसे उसके सड़क के किनारे कुत्ते की मौत मरने पर भी कोई एतराज नहीं था, वह अब इन खाली खेतों को देखकर क्या कहना चाहेगा? जाड़े की ऋतु में जापान के खेतों को इस तरह खाली पड़े देखकर मैं अब चुपचाप नहीं बैठ सकता। इस पुआल के तिनके से मैं अकेला अपने बल पर एक नई क्रांति की शुरुआत करूंगा।

वे युवा जो अब तक खामोशी से मेरी बातें सुन रहे थे, अचानक जोरों से हंसने लगे।

'एक अकेले आदमी का इंकलाब! आओ चलें कल ही एक बड़े से बोरे में हम जौ, चावल और बनमेथी के बीज भरकर ओकुनीनुशी-नो-भीकतो (जापान की किंवदंतियों में वर्णित चिकित्सा का वह

देवता जो अपने कंधे पर एक बड़ा झोला लादे सारी दुनिया का चक्कर लगाते हुए लोगों को शुभ-आशीष बांटता फिरता है।) की तरह कंधे पर लाद कर यहां से चल पड़ें और उन बीजों को तोकाईदो के सारे खेतों में बिखेर दें।'

'नहीं, यह एक अकेले आदमी की क्रांति नहीं, एक पुआल के तिनके की क्रांति है,' मैंने हंसते हुए कहा।

झोपड़ी से बाहर धूप में निकला, मैं एक क्षण रुका, पके फलों से लदे फल-बाग के पेड़ों तथा खरपतवार और मेथी में अपनी चोंच मारते मुर्गी के चूजों को मैंने निहारा, और फिर हमेशा की तरह अपने खेतों की तरफ उतर गया।

अंत